



श्रीसमन्तभद्राय नमः

श्रीमस्वामि-समन्तभद्राचार्य-विरचित
चतुर्विंशति-जिन-स्तवनात्मक

स्वयम्भू-स्तोत्र

अनुवादादिभूषित

—*—*—*—*

१

श्रीवृषभ-जिन-स्तवन

—*—*—*—*

स्वयम्भुवा भूत-हितेन भूतले
समझस-ज्ञान-विभूति-चक्षुषा ।
विराजितं येन विधुन्वता तमः
क्षपाकरेणोव गुणोत्करैः करैः ॥५॥

‘जो स्वयम्भू थे—स्वयं ही, विना किसी दृसरेके उपदेशके, मात्र-
मार्गको जानकर तथा उसका अनुष्ठान करके आत्म-विकासको प्राप्त हुए

थे—प्राणियोंके हितकी—संसारी जीवोंके आत्मकल्याणकी—भावना एवं परिणतिसे युक्त साक्षात् भूतहितकी मूर्ति थे, सम्यग्ज्ञान-की विभूतिरूप—सर्वज्ञतामय—(अद्वितीय) नेत्रके धारक थे, और अपने गुणसमूहरूप-हाथोंसे—अबाधितत्व और यथावस्थित अर्थ-प्रकाशकत्व आदि गुणोंके समूहवाले वचनोंसे—अन्धकारको—जगतके भ्रान्ति एवं दुःख-मूलक अश्वानको—दूर करते हुए, पृथ्वीतलपर ऐसे शोभायमान होते थे जैसे कि अपनी अर्थ-प्रकाशकत्वादिगुण-विशिष्ट किरणोंसे रात्रिके अन्धकारको दूर करता हुआ पूर्ण-चन्द्रमा सुशोभित होता है।'

प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषुः
शशास्रं कृष्णादिषु कर्मसु प्रजाः ।
प्रबुद्धतत्त्वः पुनरङ्गुतोदयो
ममत्वतो निर्विविदे विदांवरः ॥२॥

‘जिन्होंने, (वर्तमान अवसर्पिणी कालंके) प्रथम प्रजापतिके रूपमें देश, काल और प्रजा-परिस्थितिके तत्त्वोंको अच्छी तरहसे जानकर, जीनेकी—जीवनोपायको जाननेकी—इच्छा रखनेवाले प्रजाजनोंको सबसे पहले कृषि आदि कर्मोंमें शिक्षित किया—उन्हें खेती करना, शस्त्र चलाना, लेखन-कार्य करना, विद्या-शास्त्रोंको पढ़ना, दस्तकारी करना तथा बनज-व्यापार करना सिखलाया—; और फिर हेयो-पादेय तत्त्वका विशेष ज्ञान प्राप्त करके आश्रयकारा उदय (उत्थान अथवा प्रकाश) को प्राप्त होते हुए जो ममत्वसे ही विरक्त होगये—प्रजाजनों, कुटुम्बीजनों, स्वशरीर तथा भोगोंसे ही जिन्होंने ममत्व-बुद्धि (आसक्ति) को हटा लिया । और इस तरह जो तत्त्ववेत्ताओंमें श्रेष्ठ हुए ।’

विहाय यः सागर-वारि-वाससं
 वधूमिवेमां वसुधा-वधूं सतीम् ।
 मुमुक्षुरिच्चवाकु-कुलादिरात्मवान्
 प्रभुः प्रवत्राज सहिष्णुरच्युतः ॥३॥

‘जो मुमुक्षु थे—मोक्ष-प्राप्तिकी इच्छा रखनेवाले अथवा संसार-समुद्रसे पार उतरनेके अभिलाषी थे—, आत्मवान् थे—इन्द्रियोंको स्वाधीन रखने वाले आत्मवशी थे—, और (इसलिये) प्रभु थे—स्वतंत्र थे । जिन (विरक्त हुए) इच्छाकु-कुलके आदिपुरुषने, सती वधूको—अपने ऊपर एक निष्ठासे प्रेम रखनेवाली सुशीला महिलाको—और उसी तरह इस सागर-वारि-वस्त्रना वसुधावधूको—सागरका जल ही है वस्त्र जिसका ऐसी स्वभोग्या समुद्रान्त पृथ्वीको—भी, जो कि (युगकी आदिमे) सती-सुशीला थी—अच्छे सुशील पुरुषोंसे आबाद थी—, त्याग करके दीक्षा धारण की । (दीक्षा धारण करनेके अनन्तर) जो सहिष्णु हुए—भूख-प्यास आदिकी परीष्फहोसे अजेय रहकर उन्हें सहनेमें समर्थ हुए—, और (इसीलिये) अच्युत रहे—अपने प्रतिज्ञात (प्रतिज्ञारूप परिणत) ब्रत-नियमोंसे चलायमान नहीं हुए । (जबकि दूसरे कितने ही मातहत राजा, जिन्होंने त्वाप्यभक्तिसे प्रेरित होकर आपके देखादेखी दीक्षा ली थी, मुमुक्षु, आत्मवान्, प्रभु तथा सहिष्णु न होनेके कारण, अपने प्रतिज्ञात ब्रतोंसे च्युत और झाष होगये थे) ।’

स्व-दोष-मूलं स्व-समाधि-तेजसा
 निनाय यो निर्दय-भस्मसात्क्रियाम् ।

जगाद् तत्त्वं जगतेऽर्थिनेऽज्ञसा
बभूव च ब्रह्म-पर्दाऽमृतेश्वरः ॥४॥

‘(तपश्चरण करते हुए) जिन्होंने अपने आत्मदोषोंके—आत्म-सम्बन्धी राग-द्वेष-काम-क्रोधादिविकारोंके—मूलकारणको—घातिकर्मचतुष्यको—अपने समाधि-तेजसे—शुक्रायानरूपी प्रचरण अग्रिसे—निर्दयतापूर्वक पूर्णतया भस्मीभूत कर दिया । तथा (ऐसा करनेके अनन्तर) जिन्होंने तत्त्वाभिलाषी जगतको तत्त्वका सम्यक् उपदेश दिया—जीवादि तत्त्वोंका यथार्थ स्वरूप बतलाया । और (अन्तको) जो ब्रह्मपदरूपी अमृतके—स्वात्मस्थितिरूप मोक्ष-दशामें प्राप्त होनेवाले अविनाशी अनन्त सुखके—ईश्वर हुए—स्वामी बने ।’

म विश्व-चर्कुर्वृष्टिपमोऽर्चितः सर्ता
ममग्र-विद्याऽस्त्म-त्रपुर्निरञ्जनः ।
पुनातु चेतो मम नाभि-नन्दनो
जिनोऽजित-कुल्लक-वादि-शासनः ॥५॥

‘(इस तरह) जो मम्पूर्ण कर्म-शत्रुओंको जीतकर ‘जिन’ हुए, जिनका शासन कुल्लकवादियोंके—अनित्यादि मर्वथा एकान्त पद्मका प्रतिपादन करनेवाले प्रवादियोंके—द्वारा अजेय था. और जो सर्वदर्शी हैं, सर्वविद्यात्मशरीरी हैं— पुद्गलपिण्डमय शरीरके अभावमें जीवादि मम्पूर्ण पदार्थोंको अपना मान्नात् विषय करनेवाली केवलज्ञानरूप पूर्णविद्या (सर्वज्ञता) ही जिनका आत्मशरीर है—, जो सत्पुरुषोंसे पृजित हैं, और निरञ्जन पदको प्राप्त हैं—ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, शरीरादि

† ‘जिन-कुल्लक-वादि-शासनः’ इनि पाठान्तरम् ।

नोकर्म तथा राग-द्वेषादे भावकर्मरूपी त्रिविध कर्म-कालमासे सर्वथा रहित होकर आवागमनसे विमुक्त हो चुके हैं—, वे (उक्त गुण-विशिष्ट) नाभिनन्दन—चौदृढ़वं कुलकर (मन) श्रीनाभिरायके पुत्र—श्रीवृषभ-देव—धर्मतीर्थके आद्य-प्रवर्तक प्रथम तीर्थकर श्रीआदिनाथ भगवान्—मेरे अन्तःकरणको पवित्र करें—उनके स्तवन एवं स्वरूप-चिन्तनके प्रसादसे मेरे हृदयको कलुषित तथा मलिन करनेवाली कपाय-भावनाएँ शान्त होजायें।

२

श्रीअजित-जिन-स्तवन

यस्य प्रभावात् त्रिदिवे-च्युतस्य
क्रीडास्वपि क्वीबमुखाऽरविन्दः ।
अजेय-शक्तिर्भुवि बन्धु-वर्गशक्तार
नामाजित इत्यबन्ध्यम् ॥ १ ॥

‘जो देवलोकसे अबतरित हुए थे और इतने प्रभावशाली थे कि उनकी क्रीडाओंमें—बाल-लीलाओंमें—भी उनका बन्धुवर्ग—, कुटुम्बसमूह—हर्षीन्मत्त-मुखकमल होजाता था, तथा जिनके माहा-त्यसे वह बन्धुवर्ग पृथ्वीपर अजेय-शक्तिका धारक हुआ—उसे कोई भी जीत नहीं सका—और (इसलिये) उस बन्धुवर्गने जिनका ‘अजित’ ऐसा सार्थक अथवा अन्वर्थक नाम रखा।’

‘न केनचिजीयते (अन्तरंगैर्बाह्यै शशुभिर्न जीयते वा) इत्यजितः
अतएव अवन्ध्यमन्वर्थम् ।’

—प्रभाचन्द्रः

अद्याऽपि यस्याऽजितशासनस्य
 सतां प्रणेतुः प्रतिमङ्गलार्थम् ।
 प्रगृह्णते नाम परम-पवित्रं
 स्वसिद्धि-कामेन जनेन लोके ॥ २ ॥

‘जिनका शासन—अनेकान्तमत—अजेय था—सर्वथा एकान्तमता-
 वलभी परवादीजन जिसे जीतनेमें असमर्थ थे—और जो सत्पुरुषोंके—
 भव्यजनोंके—प्रधान नेता थे—उन्हें आत्मकल्याणके समीचीन मार्गमें
 प्रवृत्त करानेवाले थे—उन अजित तीर्थङ्करका परमपवित्र—पाप-
 क्षयकारक और पुण्यवर्धक—नाम आज भी—असंख्यात काल बीत
 जानेपर भी—लोकमें अपनी इष्टसिद्धिरूप विजयके इच्छुक जन-
 समूहके द्वारा प्रत्येक मंगलके लिये—अपनी किसी भी इष्टसिद्धिके
 निमित्त—सादर ग्रहण किया जाता है—भव्यजनोंकी दृष्टिमें वह बराबर
 महत्त्व-पूर्ण बना हुआ है’

यः प्रादुरासीत्प्रभु-शक्ति-भूमा
 भव्याऽशयालीन-कलङ्क-शान्त्यै ।
 महामुनिर्मुक्त-घनोपदेहो
 यथाऽरविन्दाऽभ्युदयाय भास्वान् ॥ ३ ॥

‘घातिया कर्मोंके आवरणादिरूप उपलेपसे मुक्त जो महामुनि
 (गणधरादि-मुनियोंके अधिपति) भव्यजनोंके हृदयोंमें संलग्न हुए
 कलङ्कोंकी—अज्ञानादि-दोषों तथा उनके कारणीभूत ज्ञानावरणादि-कर्मों-
 की—शान्तिके लिये—उन्हें समूल नष्ट कर भव्यजनोंका आत्म-विकास
 सिद्ध करनेके लिये—जगत्का उपकार करनेमें समर्थ अपनी वचनादि

शक्तिकी सम्पत्तिके साथ उसी प्रकार प्रादुर्भूत हुए जिस प्रकार कि
मेघोंके आवरणसे मुक्त हुआ सूर्य, कमलोंके अभ्युदयके लिये—
उनके अन्तः अन्धकांको दूर कर उन्हें विकसित करनेके लिये—अपनी
प्रकाशमय समर्थ शक्ति-सम्पत्तिके साथ प्रकट होता है।'

यैन प्रणीतं पृथु धर्म-तीर्थं द्येष्ठं
जनाः प्राप्य जयन्ति दुःखम् ।
गाङ्गं हृदं चन्दन-पङ्क-शीतं
गज-प्रवेका इव धर्म-तमाः ॥ ४ ॥

‘(उक्त प्रकारसे प्रादुर्भूत होकर) जिन्होंने उस धर्मतीर्थका—
सम्बद्धनार्दिन-रत्नत्रय, उत्तमक्षमादि-दैरीलक्षण और सामायिकादि-
पञ्च प्रकार चारित्र-धर्मके प्रतिपादक आगमतीर्थका—प्रणयन किया—
प्रकाशन किया—जो महान है—सम्पूर्ण पदार्थोंके स्वरूप-प्रतिपादनकी
दृष्टिसे विशाल है,—ज्येष्ठ है—समस्त धर्मतीर्थोंमें प्रधान है—और
जिसका आश्रय पाकर भव्यजन (संसार-परिभ्रमण-जन्य) दुःख-
सन्तापपर उसी प्रकार विजय प्राप्त करते हैं—उससे छूट जाते हैं—
जिस प्रकार कि ग्रीष्मकालीन सूर्यके आतापसे सन्ताप हुए बड़े बड़े
हाथी चन्दनलेपके समान शीतल गङ्गाद्रहको प्राप्त होकर अथवा
गंगाके अगाध जलमें प्रवेश करके सूर्यके आतापजन्य दुःखको
मिटा डालते हैं।’

स ब्रह्मनिष्ठः सम-मित्र-शत्रु-
विद्या-विनिर्वान्त-कषाय-दोषः ।

लब्धात्मलक्ष्मीरजितोऽजितात्मा

जिन-श्रियं † मे भगवान् विधज्ञाम् ॥५॥(१०)

‘जो ब्रह्मनिष्ठ थे—अनन्य-श्रद्धाके साथ आत्मामें अहिंसाकी पूर्ण प्रतिष्ठा किये हुए थे—, (इसीसे) सम-मित्र-शत्रु थे—मित्र और शत्रुमें कोई भेद-भाव न करके उन्हें आत्महष्टिसे समान अवलोकन करते थे—, आत्मीय कथाय-दोषोंको जिन्होंने सम्यग्ज्ञानाऽनुष्ठानरूप विद्याके द्वारा पूर्णतया नष्ट कर दिया था—आत्मापरसे उनके आधिपत्यको बिल्कुल हटा दिया था—,(और इसीसे) जो लब्धात्मलक्ष्मी हुए थे— अनन्तज्ञानादि आत्मलक्ष्मीरूप जिनश्रीको जिन्होंने पूर्णतया स्वाधीन किया था—; (इस प्रकारके गुणोंसे विभूषित) वे अजितात्मा—इन्द्रियोंके आधीन न होकर आत्मस्वरूपमें स्थित—भगवान् अजित-जिन मेरे लिये जिन-श्रीका—शुद्धात्म-लक्ष्मीकी प्राप्तिका—विधान करें। अर्थात् मैं, उनके आराधन-भजन-द्वारा उन्हींका आदर्श सामने रखकर, अपनी आत्माको कर्म-बन्धनसे छुड़ाता हुआ पूर्णतया स्वाधीन करनेमें समर्थ होऊँ, और इस तरह जिन-श्रीको प्राप्त करनेमें वे मेरे सहायक बनें।’



† ‘जिनः श्रियं’ इति पाठान्तरम् ।

३

श्रीशम्भव-जिन-स्तवन

न्वं शम्भवः । सम्भव-र्तष-रोगे:
सन्तप्यमानस्य जनस्य लोके ।
आसीरिहाऽकस्मिक एव वैद्यो
वैद्यो यथाऽनाथरुजां प्रशान्त्यै ॥१॥

(‘अन्वर्थ-संज्ञाके धारक हैं’) हे शम्भव-जिन ! सांसारिक तृष्णा-रोगोंसे प्र-पीडित जनसमूहके लिये आप इस लोकमें उसी प्रकार आकस्मिक वैद्य हुए हैं जिस प्रकार कि अनाथोंके—द्रव्यादि-सहाय-विहीनोंके—रोगोंकी शान्तिके लिये कोई चतुर वैद्य अचानक आ जाता है—और अपने लिये चिकित्साके फलस्वरूप धनादिकी कोई अपेक्षा न रखकर उन गरीबोंकी चिकित्सा करके उन्हें नीरोग बनानेका पूर्ण प्रयत्न करता है।’

अनित्यमत्राणमहंक्रियाभिः
प्रसङ्ग-मिथ्याऽध्यवसाय-दोषम् ।
इदं जगज्जन्म-जराऽन्तकार्त्त
निरङ्गना शान्तिमजीगमस्त्वम् ॥२॥

‘सम्भव’ इति पाठान्तरम् ।

‘शम्भव इत्यन्वर्थेयं संज्ञा । शं सुखं भवत्यस्माद्द्रव्यानां इति शम्भवः—(जिनसे भव्योंको सुख होवे वे ‘शम्भव’) ।’ —प्रभाचन्द्राचार्य

‘यह (दशमान) जगत, जो कि अनित्य है, अशरण है, अहंकार-ममकारकी क्रियाओंके द्वारा संलग्न मिथ्या अभिनिवेशके दोषसे दूषित है और जन्म-जरा-मरणसे पीड़ित है, उसको (हे शम्भवजिन !) आपने निरञ्जना—कर्म-मलके उपद्रवसे रहित मुक्ति-स्वरूपा—शान्तिकी प्राप्ति कराई है—उसे उस शान्तिके मार्गपर लगाया है जिसके फलस्वरूप कितनोंने ही चिन्त-शान्तिकी प्राप्ति की है।’

शतहृदोन्मेष-चलं हि सौख्यं
तृष्णाऽमयाऽप्यायन-मात्र-हेतुः ।
तृष्णाभिवृद्धिश्च तपत्यजस्तं
तापस्तदायासयतीत्यवादीः ॥३॥

‘आपने पीड़ित जंगतको उसके दुःखका यह निदान बतलाया है कि—इन्द्रिय-विषय-सुख विजलीकी चमकके समान चञ्चल है—क्षणभर भी स्थिर रहनेवाला नहीं है—और तृष्णारूपी रोगकी वृद्धिका एकमात्र हेतु है—इन्द्रिय-विषयोंके सेवनसे तृप्ति न होकर उलटी तृष्णा बढ़ जाती है—तृष्णाकी अभिवृद्धि निरन्तर ताप उत्पन्न करती है और वह ताप जगतको (कृषि-वाणिज्यादि-कर्मोंमें प्रवृत्त कराकर) अनेक दुःख-परम्परासे पीड़ित करता रहता है।’

बन्धश्च मोक्षश्च तयोश्च हेतु*
बद्धश्च मुक्षश्च फलं च मुक्षेः ।
स्याद्वादिनो नाथ ! तवैव युक्तं
नैकान्तद्युष्टेस्त्वमतोऽसि शास्ता ॥४॥

* ‘हेतुः’ इति पाठन्तरम् ।

‘बन्ध, मोक्ष, बन्ध और मोक्षके कारण, बद्ध और मुक्त तथा
मुक्तिका फल, इन सब वातोंकी हृयवस्था हे नाथ ! आप स्याद्वादी-
अनेकान्तहृष्टिके मतमें ही ठीक बैठती है, एकान्तहृष्टियोंके—
सर्वथा एकान्तवादियोंके—मतमें नहीं । अतएव आप ही ‘शास्ता’—
तत्त्वोपदेश—हैं । दूसरे कुछ मतमें ये वातें ज़ुरूर पाई जाती हैं, परन्तु
कथनमात्र हैं, एकान्त-सिद्धान्तको स्वीकृत करनेसे उनके यहाँ बन नहीं सकतीं;
और इसलिये उनके उपदेश ठीक अर्थमें ‘शास्ता’ नहीं कहे जा सकते ।’

शक्रोऽप्यशक्स्तव पुण्यकीर्ते:

स्तुत्यां प्रवृत्तः किमु मादशोऽज्ञः ।

तथाऽपि भक्त्या स्तुत-पाद-पद्मो

ममार्य ! देयाः शिवतातिमुच्चैः† ॥५॥ (१५)

‘हे आर्य !—गुणों तथा गुणवानोंके द्वारा सेव्य शम्भव जिन ।—
आप पुण्यकीर्ति हैं—आपकी कीर्ति-ख्याति तथा जीवादि पदार्थोंका
कीर्तन-प्रतिपादन करनेवाली वाणी पुण्या-प्रशस्ता है—निम्नल है—,
आपकी स्तुतिमें प्रवृत्त हुआ शक्र—अवधिज्ञानादिकी शक्तिसे सम्पन्न
इन्द्र—भी अशक्त रहा है—पूर्णरूपसे स्तुति करनेमें समर्थ नहीं हो सका
है—, फिर मेरे जैसा अज्ञानी—अवधि आदि विशिष्टज्ञानरहित प्राणी—
तो कैसे समर्थ हो सकता है ? परन्तु असमर्थ होते हुए भी मेरे
द्वारा आपके पदकमल भक्तिपूर्वक—पूर्णश्रुतुरागके साथ—स्तुति
किये गये हैं । (अतः) आप सुझे ऊँचे दर्जेकी शिवसन्तति प्रदान करें
अर्थात् मेरे लिये ऊँचे दर्जेकी शिवसन्तति—कल्याणपरम्परा—देय
है—मैं उसको प्राप्त करनेका पात्र हूँ, अधिकारी हूँ ।’

† ‘देया शिवतातिरुच्चैः’, यह पाठ अधिक संगत जान पड़ता है ।

४

श्रीअभिनन्दन-जिन-स्तवन

गुणाऽभिनन्दादभिनन्दनो भवान्
 दया-वधूं क्वान्ति-सखीमर्शिश्रियत् ।
 समाधि-तन्त्रस्तदुपोपपत्तये द्वयेन
 नैर्गन्ध्य-गुणेन चाऽयुजत् ॥ १ ॥

‘(हे अभिनन्दन जिन !) गुणोंकी अभिवृद्धिसे—आपके जन्म लेने
 ही लोकमें सुख-समर्थ्याद्बृक गुणोंके बढ़ जानेसे—आप ‘अभिनन्दन’
 इस सार्थक संज्ञाको प्राप्त हुए हैं। आपने क्षमा-सखीबाली दयावधूं
 को अपने आश्रयमें लिया है—दया और क्षमा दोनोंको अपनाया है—
 और समाधिके—शुक्रध्यानके—लक्ष्यको लेकर उसकी सिद्धिके
 लिये आप उभय प्रकारके निर्गन्धत्वके गुणसे युक्त हुए हैं—
 आपने बाह्य-आम्यन्तर दोनों प्रकारके परिग्रहका त्याग किया है।’

अचेतने तत्कृत-बन्धजेऽपि च
 ममेदमित्याभिनिवेशिक-ग्रहात् ।
 प्रभंगुरे स्थावर-निश्चयेन च
 क्षतं जगत्त्वमजिग्रहद्वान् ॥ २ ॥

‘अचेतन-शरीरमें और शरीर-सम्बन्धसे अथवा शरीरके
 साथ किया गया आत्माका जो कर्मवश बन्ध है उससे उत्पन्न होने
 वाले सुख-दुःखादिक तथा स्त्री-पुत्रादिकमें ‘यह मेरा है—मैं इसका

हुँ' इस प्रकारके अभिनिवेश(मिथ्या अभिप्राय)को लिये हुए होनेसे तथा ज्ञानभंगुर् पदार्थोंमें स्थायित्वका निश्चय कर लेनेके कारण जो जगत् नष्ट होरहा है—आत्महित-साधनसे विमुख होकर अपना अकल्याण कर रहा है—उसे (हे अभिनन्दन जिन !) आपने तस्वका ग्रहण कराया है—जीवादि-तत्त्वोंके यथार्थ स्वरूपको बतलाकर मन्मार्ग-पर लगाया है।'

चुदादि-दुःख-प्रतिकारतः स्थिति-
न चेन्द्रियार्थ-प्रभवाऽल्प-सौख्यतः ।
ततो गुणो नास्ति च देह-देहिनो-
रितिदमित्यं भगवान् व्यजिज्ञपतु ॥ ३ ॥

'चुदादि-दुर्घोके प्रतिकारसे—भूख-प्यास आटिकी वेटनाको मियानेके लिये भोजन-पानादिका सेवन करनेसे—और इन्द्रियविषय-जनित स्वल्प सुखके अनुभवनसे देह और देहधारीका सुखपूर्वक सदा अवस्थान नहीं बनता—योड़ी ही देरकी त्रस्तिके बाट भूख-प्यासादिकी वेटना किर उत्पन्न होजाती है और इन्द्रिय-विषयोंके सेवनकी लालसा अग्निमें ईंधनके समान तीव्रतर होकर पीड़ा उत्पन्न करने लगती है। ऐसी हालतमें चुदादि-दुर्घोके इस ज्ञानस्थायी प्रतीकार और इन्द्रिय-विषय-जन्य स्वल्प-सुखके सेवनसे न तो वास्तवमें इम शरीरका कोई उपकार बनता है और न शरीरधारी आत्माका ही कुछ भला होता है; इस प्रकारकी विज्ञापना है भगवन् ! आपने इस (भ्रमके नक्करमें पड़े हुए) जगन्नको की है—उसे तत्त्वका ग्रहण कराते हुए रहन्यकी यह सब बात समझाई है, जिसमें आमकि छूट कर परम कल्याणकारी अनासक्न-यागकी ओर प्रवृत्ति होसके !'

जनोऽतिलोलोऽप्यनुबन्धदोषतो
 भयादकार्येष्विह न प्रवर्तते ।
 इहाऽप्यमुत्राऽप्यनुबन्धदोषवित्
 कथं सुखे संसजतीति चाऽब्रवीत् ॥ ४ ॥

‘आपने जगत्‌को यह भी बतलाया है कि अनुबन्ध-दोषसे—परमासक्तिके वश—विषय-सेवनमें अति लोलुपी हुआ भी मनुष्य इस लोकमें राजदण्डादिका भय उपस्थित होनेपर आकार्योंमें—परस्तीसेवनादि जैसे कुकमोंमें—प्रवृत्त नहीं होता, फिर जो मनुष्य इस लोक तथा परलोकमें होनेवाले विषयासक्तिके दोषोंको—भयंकर परिणामोंको—भलेप्रकाश जानता है वह कैसे विषय-सुखमें आसक्त होसकता है ?—नहीं हो सकता ।—अत्यासक्तिके इस लोक और परलोक-सम्बन्धी भयंकर परिणामोंका स्पष्ट अनुभव न होना ही विषय-सुखमें आसक्तिका कारण है । अतः अनुबन्धके दोषको जानना चाहिये ।’

स चानुबन्धोऽस्य जनस्य तापकृत्
 तृष्णोऽभिवृद्धिः सुखतो न च स्थितिः ।
 इति प्रभो ! लोक-हितं यतो मतं
 ततो भवानेव गतिः सतां मतः ॥५॥ (२०)

‘वह अनुबन्ध—आसक्तपन—और (विषयसेवनसे उत्पन्न होनेवाली) तृष्णाकी अभिवृद्धि—उत्तरोत्तर विषय-सेवनकी आकांक्षा—इस लोलुपी प्राणीके लिये तापकारी (कष्टप्रद) है—इच्छित वस्तुके न मिलनेपर उसकी प्राप्तिके लिये और मिल जानेपर उसके संरक्षणादिके अर्थ संतापकी परम्परा बराबर चालू रहती है—दुःखकी जननी चिन्ताएँ-

आकुलताएँ सदा धेरे रहती हैं । संताप-परम्पराके बराबर चालू रहनेसे प्राप्त हुए थोड़ेसे इन्द्रिय-विषय-सुखसे इस प्राणीकी स्थिति सुख-पूर्वक नहीं बनती । इस प्रकार लोकहितके प्रतिपादनको लिए हुए चूँकि आपका मत है—शासन है—इस लिये हे अभिनन्दन प्रभु ! आप ही जगत्के शरणभूत हैं, ऐसा सत्पुरुषोंने—मुक्तिके अर्थी विवेकी जनोंने—माना है ।

५

श्रीसुमति-जिन-स्तवन्

अन्वर्थसंज्ञः सुमतिर्मुनिस्त्वं
स्वयं पतं येन सुयुक्ति-नीतम् ।
यतश्च शेषेषु मतेषु नास्ति
सर्व-क्रिया-कारक-तत्त्व-सिद्धिः ॥ १ ॥

‘हे सुमति मुनि ! आपकी ‘सुमति’ (श्रेष्ठ-सुशोभन-मति) यह संज्ञा अन्वर्थक है—आप यथा नाम तथा गुण हैं—; क्योंकि एक तो आपने स्वयं ही—बिना किसीके उपदेशके—सुयुक्तिनीत तत्त्वको माना है—उस अनेकान्तात्मक वस्तुतत्त्वको अंगीकार किया है जो अकाट्य युक्तियोंके द्वारा प्रणीत और प्रतिष्ठित है—; दूसरे आपके (अनेकान्त) मतसे भिन्न जो शेष एकान्त मत हैं उनमें सम्पूर्ण क्रियाओं तथा कर्ता, कर्म, करण आदि कारकोंके तत्त्वकी सिद्धि—उनके स्वरूपकी

उत्पत्ति अथवा ज्ञानी—नहीं बनती। (कैसे नहीं बनती, यह बात 'सुयुक्तिनीत-तत्त्व' को स्पष्ट करते हुए द्वागली कारिकाओंमें बतलाई गई है)।'

अनेकमेकं च तदेव तत्त्वं
भेदाऽन्वयज्ञानमिदं हि सत्यम् ।
मृषोपचारीऽन्यतरस्य लोपे
तच्छेष्ठलोपोऽपि ततोऽनुपाख्यम् ॥२२॥

'वह सुयुक्तिनीत वस्तुतत्त्व भेदाऽभेद-ज्ञानका विषय है और अनेक तथा एकरूप है—भेदज्ञानकी—पर्यायकी—दृष्टिसे अनेकरूप हैं तो वही अभेदज्ञानकी—द्रव्यकी—दृष्टिसे एकरूप है—और यह वस्तुको भेद-अभेदस्वप्से प्रहणा करनेवाला ज्ञान ही सत्य है—प्रमाण है। जो लोग इनमेंसे एकको ही सत्य मानकर दूसरेमें उपचारका व्यवहार करते हैं वह मिथ्या है; क्योंकि (दोनोंका परस्पर अविनाभाव-सम्बन्ध होनेसे) दोनोंमेंसे एकका अभाव माननेपर दूसरेका भी अभाव हो जाता है। दोनोंका अभाव हो जानेसे वस्तुतत्त्व अनुपाख्य-निःस्वभाव हो जाता है—और तब वह न तो एकरूप रहता है और न अनेकरूप। स्वभावका अभाव होनेसे उसे किसी रूपमें कह नहीं सकते, और इससे सम्पूर्ण व्यवहारका ही लोप ठहरता है।'

मतः कथश्चित्तदमत्व-शक्तिः
खे नास्ति पुष्पं तरुषु प्रसिद्धम् ।
मर्व-स्वभाव-च्युतमप्रमाणं
स्व-वाग्विरुद्धं तव दृष्टितोऽन्यत् ॥ २३ ॥

'जो सत है—स्वद्रव्य-चेत्र-काल-भावसे विद्यमान है—उसके

कथंचित् अस्त्वशक्ति भी होती है—परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षा वह असत् है—; जैसे पुष्प-बृक्षोंपर तो अस्तित्वको लिये हुए प्रसिद्ध है परन्तु आकाशपर उसका अस्तित्व नहीं है, आकाशकी अपेक्षा वह असत्-रूप है—यदि पुष्प-बृक्ष सर्वथा सत्-रूप हो तो आकाशके भी पुष्प मानना होगा और यदि सर्वथा असत्-रूप हो तो बृक्षोंपर भी उसका अभाव कहना होगा । परन्तु यह मानना और कहना दोनों ही प्रतीतिके विरुद्ध होनेसे ठीक नहीं है । इसपरसे यह फलित होता है कि वस्तु-तत्त्व कथंचित् सत्-रूप और कथंचित् असत्-रूप है—स्वद्रव्यादि-चतुष्यकी अपेक्षा जहाँ सत्-स्वरूप है वहाँ परद्रव्यादि-चतुष्यकी अपेक्षा असत्-रूप भी है । किसी भी वस्तुके स्वरूपकी प्रतिष्ठा उस वक्त तक नहीं बन सकती जब तक कि उसमेंपर रूपका निषेध न किया जाय । आम्र-फलको अनार, सन्तरा या अंगूर क्यों नहीं कहते ? इसी लिये न कि उसमें अनारपन, सन्तरापन, तथा अंगूरपन नहीं है—वह अपनेमें उनके स्वरूप-का प्रतिषेधक है । जो अपनेमें पररूपका प्रतिषेधक नहीं वह स्व-स्वरूपका प्रस्थापक भी नहीं हो सकता । इसीसे प्रत्येक वस्तुमें अस्तित्व और नास्ति-तत्त्व दोनों धर्म होते हैं और वे परस्पर अविनाभावी होते हैं—एकके बिना दूसरेका सद्भाव बन नहीं सकता ।

यदि वस्तुतत्वको सर्वथा स्वभावच्युत माना जाय—उसमें अस्ति-त्व, नास्तित्व, एकत्व, अनेकत्व आदि धर्मोंका सर्वथा अभाव स्वीकार किया जाय—तो वह ध्यग्रमाण ठहरता है—उस तत्त्वका तत्त्व कोई व्यवस्थापक नहीं रहता । इसीसे (हे सुमति जिन !) आपकी हृषिसे सर्व-जीवादि-तत्त्व कथंचिन् संत-असत्-रूप अनेकान्नात्मक हैं । इस मतसे भिन्न-दूसरा सत्त्वाद्वैतलक्षण अथवा शून्यतैकान्तस्वभावरूप जो एकान्त तत्त्व है—मत है—वह स्ववचनविरुद्ध है—उसकी प्रमाणता बतलानेमें प्रमाण-

की सत्ता स्वीकार करनेसे उस मतके प्रतिपादकोंके 'मेरी माँ बाँझ' की तरह-
स्वच्चन्द्र-विरोध आता है, अर्थात् सत्त्वाद्वैतवादियोंके द्वैतापत्ति होकर उन-
की अद्वैतता भंग हो जाती है और शून्यतैकान्तवादियोंके प्रमाणका अस्तित्व
होकर सर्वशून्यता बनी नहीं रहती—विष्ट जाती है। और प्रमाणका
अस्तित्व स्वीकार न करनेसे स्वपत्रका साधन और परपत्रका दूपरण बन
नहीं सकता—वह निराधार ठहरता है।

न सर्वथा नित्यमुदेत्यपैति

न च क्रिया-कारकमत्र युक्तम् ।

नैवाऽसतो जन्म सतो न नाशो

दीपस्तुपः पुद्गलभावतोऽस्ति ॥ ४ ॥

'यदि वस्तु सर्वथा—द्रव्ये और पर्याय दोनों रूपसे—नित्य हो तो
वह उद्य-अस्तको प्राप्त नहीं हो सकती—उसमें उत्तराकारके स्वीकार-
रूप उत्पाद और पूर्वाकारके परिहाररूप व्यय नहीं बन सकता। और न
उसमें क्रिया-कारककी ही योजना बन सकती है—वह न तो चलने-
ठहरने जीर्ण होने आदि किसी भी क्रियारूप परिणामन कर सकती है और
न कर्ता-कर्मादिरूपसे किसीका कोई कारक ही बन सकती है—उसे सदा
सर्वथा अग्न अपरिवर्तनीय एकरूप रहना होगा, जो असंभव है। (इसी
तरह) जो सर्वथा असत् है उसका कभी जन्म नहीं होता और जो
सत् है उसका कभी नाश नहीं होता। (यदि यह कहा जाय कि विद्व-
मान दीपकका—दीप-प्रकाशका—तो बुझनेपर अभाव हो जाता है, फिर
यह कैसे कहा जाय कि सतका नाश नहीं होता ? इसका उत्तर यह है कि)
दीपक भी बुझनेपर सर्वथा नाशको प्राप्त नहीं होता, किन्तु उस-
समय अन्धकाररूप पुद्गल-पर्यायको धारण किये हुए अपना

अस्तित्व रखता है—प्रकाश और अन्धकार दोनों पुद्गालकी पर्याय हैं, एक पर्यायके अभावमें दूसरी पर्यायकी स्थिति बनी रहती है, वस्तुका सर्वथा अभाव नहीं होता ।

विधिर्निषेधश्च कथच्छिदिष्टौ ।

विवक्षया मुख्य-गुण-व्यवस्था ।

इति प्रणीतिः सुमतेस्तवेयं

मति-प्रवेकः स्तुतोऽस्तु नाथ ! ॥५॥ (२५)

‘(वास्तवमें) विधि और निषेध—अस्तित्व और नास्तित्व—दोनों कथंचित् इष्ट हैं—सर्वथा रूपसे मान्य नहीं। विवक्षासे उनमें मुख्य-गौणकी व्यवस्था होती है—उदाहरणके तौरपर द्रव्यदृष्टिसे जब नित्य-त्व प्रधान होता है तो पर्यायदृष्टिका विषय अनित्यत्व गौण होजाता है और पर्यायदृष्टि-भूलक अनित्यत्व जब मुख्य होता है तब द्रव्यदृष्टिका विषय नित्यत्व गौण हो जाता है।

इस प्रकारसे है सुमति जिन ! आपका यह तत्त्व-प्रणयन है। इस तत्त्व-प्रणयनके द्वारा आपकी स्तुति करनेवाले सुभ स्तोत्र (उपासक) की मतिका उत्कर्ष होवे—उसका पूर्ण विकास होवे।

भावार्थ—यहाँ स्वामी समन्तभद्रने सुमतिवेका, उनके मति-प्रवेकको लक्ष्यमें रखकर, स्तवन करके यह भावना की है कि उस प्रकारके मति-प्रवेकका—ज्ञानोत्कर्षका—मेरे आत्मामें भी आविर्भाव होवे। सो ठीक ही है, जो जैसा बनना चाहता है वह तद्गुण-विशिष्टकी उपासना किया करता है, और उपासनामें यह शक्ति है कि वह भव्य-उपासकको तद्रूप बनाती है; जैसे तेलसे भीगी हुई चत्ती जब दीपककी उपासना करती है— तद्रूप होनेके लिये जब पूर्ण तन्मयताके साथ दीपकका आलिङ्गन करती

है—तो वह भिन्न होते हुए भी तद्रूप होजाती है—स्वयं वैसी ही दीप-शिखा बन जाती है* ।

६

श्रीपद्मप्रभ-जिन-स्तवन

— * : * : * : —

पद्मप्रभः पद्म-पलाश-लेश्यः
पद्मालयाऽलिङ्गितचारुमूर्तिः ।
बभौ भवान्-भव्य-पयोरुहाणां
पद्माकराणामिव पद्मवन्धुः ॥१॥

‘पद्म-पत्रके समान द्रव्यलेश्याके—रक्तवर्णाभ-शरीरके—धारक (और इसलिये अन्वर्थसंज्ञक) हे पद्मप्रभ जिन ! आपकी (आत्मस्वरूप तथा शरीररूप) सुन्दरमूर्ति पद्मालया—लक्ष्मीसे आलिङ्गित रही है—आत्मस्वरूप मूर्तिका अनन्तज्ञानादि-लक्ष्मीने तथा शरीररूप मूर्तिका निःस्वेदतादि-लक्ष्मीने दृढ़ आलिंगन किया है, और इस तरह आपकी उभय प्रकारकी मूर्ति उभय प्रकारकी लक्ष्मीके (शोभाके) साथ तन्मयताको प्राप्त हुई है । और आप भव्यरूप कमलोंकों विकसित करनेके लिये—*

*इसी भावको श्रीपूज्यपाद आचार्यने अपने ‘समाधितंत्र’की निम्न कारिकामें व्यक्त किया है—

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा पर्हो भवेति तादृशः
वर्तिदीपं यथोपास्य भिन्ना भवस्ति तादृशी ॥ ६७ ॥

उनका आत्मविकास करनेके लिये—उसी तरह भासमान हुए हैं
जिस तरह कि पद्मबन्धु—सूर्य पद्मकारोंका—कमलसमूहोंका—विकास
करता हुआ सुशोभित होता है।'

बभार पद्मा च सरस्वतीं च
भवान् पुरस्तात्प्रतिमुक्तिलङ्घ्याः ।
सरस्वतीमेव समग्र-शोभा
सर्वज्ञ-लक्ष्मी-ज्वलितां* विमुक्तः ॥२॥

‘आपने प्रतिमुक्तिलक्ष्मीकी प्राप्तिके पूर्व—श्रहन्त-अवस्थासे
पहले—लक्ष्मी और सरस्वती दोनोंको धारण किया है—उस समय
गहस्थावस्थामें आप यथेच्छ धन-सम्पत्तिके स्वामी थे, आपके यहाँ लक्ष्मीके
अद्भुत भण्डार भरे थे, साथ ही अवधि-ज्ञानादिलक्ष्मीसे भी विभूषित थे
और सरस्वती आपके करण्डमें स्थित थी। बादको विमुक्त होनेपर—
जीवन्मुक्त (श्रहन्त) अवस्थाको प्राप्त करनेपर—आपने उस पूर्ण शोभा-
वाली सरस्वतीको—दिव्य वाणीको—ही धारण किया है जो सर्वज्ञ-
लक्ष्मीसे प्रदीप्त थी—उस समय आपके पास दिव्यवाणीरूप सरस्वतीकी
ही प्रधानता थी, जिसके द्वारा जगतके जीवोंको उनके कल्याणका मार्ग
सुझाया गया है।’

शरीर-रश्मि-प्रसरः प्रभोस्ते
चालाक्त-रश्मिच्छ्विराऽऽलिलेप ।
नराऽमराऽऽक्षीर्ण-सभां प्रभा वा
शैलस्यां पद्माभमणेः स्वसानुम् ॥३॥

*‘लक्ष्मी ज्वलिता’ इति पाठान्तरम्। †‘प्रभावच्छैलस्य’ इति पाठान्तरम्।

‘हे प्रभो ! प्रातःकालीन सूर्य-किरणोंकी छविके समान—रक्षर्ण आभाको लिये हुए—आपके शरीरकी किरणोंके प्रसार (फैलाव) ने मनुष्यों तथा देवताओंसे भरी हुई समवस्तु-सभाको इस तरह आलिप्त (व्याप) किया है जिस तरह कि पद्माभमणि-पर्वतकी प्रभा अपने पार्श्वभागको आलिप्त करती है ।’

नभस्तर्लं पल्लवयन्निव त्वं
सहस्रपत्राऽम्बुज-गर्भचारैः ।
पादाऽम्बुजैः पातित-पार-दर्पो
भूमौ प्रजानां विजहर्थः भूत्यै ? ॥४॥

‘(हे पद्मप्रभ जिन !) आपने कामदेवके दर्प (मद) को चूर चूर किया है और सहस्रदल-कमलोंके मध्यभागपर चलनेवाले अपने चरण-कमलोंके द्वारा नभस्थलको पल्लवोंसे व्याप-जैसा करते हुए, प्रजाकी विभूतिके लिये—उसमें हेयोपादेयके विवेकको जागृत करनेके लिये—भूतलपर विहार किया है ।’

गुणाम्बुधेर्विप्रुषमप्यजस्य*
नाऽखंडलः स्तोतुमलं तवर्पेः ।
ग्रागेव माद्किमुताऽतिभक्ति-
र्मा वालमालापयतीदमित्थम् ॥५॥ (३०)

‘हे ऋषिवर ! आप अज हैं—पुनर्जन्मसे रहत हैं—, आपके नुस्खे में जो ‘विजहर्त्वं’ पाठ है वह अशुद्ध है और लेखकोंकी ‘थ’ को ‘ष’ पढ़ लेने जैसी भूलका परिणाम जान पड़ता है ।

*‘अजस्तं’ इति पाठान्तरम् ।

गुणसमुद्रके लवमात्रकी भी स्तुति करनेके लिये जब इन्द्र पहले ही समर्थ नहीं हुआ है, तो फिर अब मेरे जैसा असमर्थ प्राणी कैसे समर्थ हो सकता है?—नहीं हो सकता। यह आपके प्रति मेरी अति भक्ति ही है जो मुझ बालकसे—स्तुति-विप्रयमें अनभिज्ञसे—इस प्रकारका यह स्तवन कराती है।

७

श्री सुपाश्वर्जिन-स्तवन

स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पुंसां
स्वार्थो न भोगः परिमंगुरात्मा ।
तृष्णोऽनुषंगान् च तापशान्ति-
रितीदमाख्यद्वगवान् सुपाश्वः ॥१॥

‘यह जो आत्यन्तिक स्वास्थ्य है—विभाव-परिणामिसे रहित अपने अनन्तज्ञानादिमय-स्वात्म-स्वरूपमें अविनश्वरी स्थिति है—वही पुरुषोंका—जीवात्माओंका—स्वार्थ है—निजी प्रयोजन है, क्षणभंगुर भोग—इन्द्रिय-विषय-सुखका अनुभव—स्वार्थ नहीं है; क्योंकि इन्द्रिय-विषय-सुखके सेवनसे उत्तरोत्तर तृष्णाकी—भोगाकांक्षाकी—वृद्धि होती है और उससे तापकी—शारीरिक तथा मानसिक दुखकी—शान्ति नहीं होने पाती। यह स्वार्थ और अस्वार्थका स्वरूप शोभनपात्रों—सुन्दर शरीरांगों—के धारक (और इसलिये अन्वर्थ-संज्ञक) भगवान् सुपाश्व ने बतलाया है।’

अज्ञंगमं जङ्गम-नेय-यन्त्रं
 यथा तथा जीव-धृतं शरीरम् ।
 वीभत्सु पूति क्षयि तापकं च
 स्नेहो वृथाऽत्रेति हितं त्वमाख्यः ॥२॥

‘जिस प्रकार अज्ञंगम (जड) यंत्र स्वयं अपने कार्यमें प्रवृत्ता न होकर जंगम पुरुषके द्वारा चलाया जाता है उसी प्रकार जीवके द्वारा धारण किया हुआ यह शरीर अज्ञंगम है—बुद्धिपूर्वक परिस्पन्द-व्यापारसे रहित है—और चेतन-पुरुषके द्वारा स्वव्यापारमें प्रवृत्त किया जाता है । साथ ही, वीभत्सु है—धृणात्मक है—, पूति है—दुर्गन्धियुक्त है—, क्षयि है—नाशवान् है—और तापक है—आत्माके दुःखोंका कारण है । इस प्रकारके शरीरमें स्नेह रखना—अतिअनुराग बढ़ाना—वृथा है—उससे कुछ भी आत्मकल्याण नहीं सध सकता । यह हितकी बात है सुपर्श्व जिन ! आपने बतलाई है ।’

अलंध्यशक्तिर्भवितव्यतेयं
 हेतु-द्वयाऽविष्कृत-कार्य-लिङ्गा ।
 अनीश्वरो जन्तुगहंक्रियार्तः
 संहत्य कार्येष्विति साध्ववादीः ॥३॥

‘आपने यह भी ठीक कहा है कि हेतुद्वयके—अन्तरंग और बाह्य अर्थात् उपादान और निमित्त दोनों कारणोंके—अनिवार्य संयोग-द्वारा उत्पन्न होनेवाला कार्य ही जिसका ज्ञापक है ऐसी यह भवितव्यता (जो हितका समुच्चित एवं समर्थ उपदेश मिलनेपर भी किसीकी हितमें प्रवृत्ति नहीं होने देती) अलंध्यशक्ति है—किसी तरह भी टाली नहीं

ठलती । और इस भवितव्यताकी अपेक्षा न रखनेवाला अहंकारसे पीड़ित हुआ संसारी प्राणी (यन्त्र-मन्त्र-तन्त्रादि) अनेक सहकारी कारणोंसे मिलाकर भी सुखादिक कार्योंके सम्पन्न करनेमें समर्थ नहीं होता ।

चिभेति मृत्योर्न ततोऽस्ति मोक्षो
नित्यं शिवं वाञ्छति नाऽस्य लाभः ।
तथाऽपि बालो भय-काम-वश्यो
वृथा स्वयं तप्यत इत्यवादीः ॥४॥

‘आपने यह भी बतलाया है कि—यह संसारी प्राणी मृत्युसे डरता है परन्तु (अलंच्यशक्ति-भवितव्यता-वश) उस मृत्युसे छुटकारा नहीं, नित्य ही कल्याण अथवा निर्वाण चाहता है परन्तु (भावीकी उसी अलंच्यशक्ति-वश) उसका लाभ ज्ञहीं होता’। फिर भी यह मूढ़ प्राणी भय और इच्छाके वशीभूत हुआ स्वयं ही वृथा तप्तायमान होता है । लेकिन डरने तथा इच्छा करने मात्रसे कुछ भी नहीं बनता, उलटा दुःख-सन्ताप उठाना पड़ता है ।

सर्वस्य तत्त्वस्य भवान् प्रमाता
मातेव बालस्य हिताऽनुशास्ता ।
गुणाऽवलोकस्य जनस्य नेता
मयाऽपि भक्त्या परिणूयतेऽद्य* ॥५॥ (३५)

‘(हे सुपार्श्व जिन !) आप सम्पूर्ण तत्त्व-समूहके—जीवादि-विश्व-तत्त्वोंके—प्रमाता हैं—संशयादिरहित ज्ञाता हैं, माता जिस

* ‘परिणूयसे’ यह उपलब्ध प्रतियोका पाठ ‘भवान्’ शब्दकी मौजूदगी में कुछ ठीक प्रतीत नहीं होता ।

प्रकार वालको हितकी—उसके भलेकी—शिक्षा देती है उसी प्रकार आप हेयोपादेयके ज्ञानसे रहित वालक-तुल्य जनसमूहको हितका—निःश्रेयस (मोक्ष) तथा उसके कारण सम्यग्दर्शमादिका—उपदेश देनेवाले हैं, और जो गुणावलोकी जन है—गुणोंकी तलाशमें रहने-वाला भव्यजीव है—उसके आप नेता हैं—बाधक कारणोंको हटाकर आत्मीय अनन्तदर्शनार्दि गुणोंको प्राप्त कर लेनेके कारण उसे उन गुणोंकी प्राप्तिका मार्ग दिखानेवाले हैं। इसीसे मैं भी इस समय भक्ति-पूर्वक आपकी स्तुतिमें प्रवृत्त हुआ हूँ—मेरे भी आप नेता हैं, मुझे भी आपके सत्-शासनके प्रतापसे आत्मीय-गुणोंकी प्राप्तिका मार्ग सूझ पड़ा है।'

८

श्रीचन्द्रप्रभ-जिन-स्तवन



चन्द्रप्रभं चन्द्र-परीचि-गौरं
 चन्द्रं द्वितीयं जगतीव कान्तम् ।
 वन्देऽभिवन्द्यं महतामृषीन्द्रं
 जिनं जित-स्वान्त-कषाय-वन्धम् ॥१॥

‘मैं उन श्रीचन्द्रप्रभ-जिनकी वन्दना करता हूँ, जो चन्द्र-किरण-सम-गौरवर्णसे युक्त जगतमें द्वितीय चन्द्रमाकी समान दीप्तिमान् (और इसलिये ‘चन्द्रप्रभ’ इस सार्थक संज्ञाके धारक) हुए हैं,

जिन्होंने अपने अन्तःकरण के कथाय-बन्धन को जीता है—समृद्धि
कोधार्दिकपायोंका नाश कर अकपायपद एवं जिनपद प्राप्त किया है—और
(इसीलिये) जो ऋषिद्विधारी मुनियोंके—गणधरादिकोंके—स्वामीं तथा
महात्माओंके द्वारा बन्दनीय हुए हैं।'

यस्याङ्ग-लक्ष्मी-परिवेश-भिन्नं
तमस्तमोरेति रश्मिभिन्नम् ।
ननाश चाद्यं बहु मानसं च
ध्यान-प्रदीपाऽतिशयेन भिन्नम् ॥२॥

‘जिनके शरीरके दिव्य प्रभामण्डल से बाह्य अन्धकार
और ध्यान-प्रदीपके अतिशय से—परम शुक्लध्यान के तेज-द्वारा—
प्रचुर मानस अन्धकार—ज्ञानावरणादिक-मंजर्ये आत्माका समस्त
अज्ञानान्धकार—उसी प्रकार नाशको प्राप्त हुआ जिस प्रकार सूर्यकी
किरणोंसे (लोकमें फैला हुआ) अन्धकार भिन्न-विदीर्ण होकर
नष्ट हो जाता है।’

स्व-पक्ष-सौम्यित्य-मदाऽवलिपा
वाक्सिंह-नादैर्विमदा बभूवुः ।
प्रवादिनो यस्य मदादृगण्डा
गजा यथा केशरिणो* निनादैः ॥३॥

‘जिनके प्रवचनरूप-सिंहनादोंको सुनकर अपने मत-पक्षकी
सुस्थितिका घमण्ड रखनेवाले—उसे ही निर्बाध एवं अकाट्य समझ-
कर मदोन्मत्त हुए—प्रवादिज्ञन (परवादी) उसी प्रकारसे निर्मद हुए

* ‘केशरिणो’ इति पाठान्तरम् ।

हैं जिस प्रकार कि मदभरते हुए मस्त हाथी केसरी-सिंहकी गर्ज-
नाचोंका सुनकर निर्मद हो जाते हैं ।

यः सर्व-लोके परमेष्ठितायाः
पदं बभूवाऽद्भुत-कर्मतेजाः ।
अनन्त-धामाऽक्षर-विश्वचक्षुः
समन्तदुःख-क्षय-शासनश्च ॥ ४ ॥

‘जो अद्भुत कर्मतेज थे—अपने योगबलसे जिन्होंने पर्वत-समान
कठोर कर्म-पटलोंका छेदनकर सदा के लिए अपने आत्मासे उनका सम्बन्ध
विच्छेद किया था अथवा शुक्रव्यानामिके द्वारा उन्हें भस्मीभूत किया
था—, (ऐसा करके) जिन्होंने अनन्ततेजरूप अविनश्वर विश्व-
चक्षुको प्राप्त किया था—केष्टक्षान-केवलदर्शनके द्वारा जो विश्व-
तत्त्वोंके ज्ञाता—दृष्टा थे—और जो सब ओरसे दुःखोंके पूर्ण क्षयरूप
मोक्षके शास्ता (उपदेश) थे—जगत्को जिन्होंने मोक्षमार्गका यथार्थ
उपदेश दिया था—; और इस तरह (इन्हीं गुणोंके कारण) जो
सम्पूर्ण लोकमें—त्रिभुवनमें—परमेष्ठिताके—परम आप्तताके—पद-
को प्राप्त हुए थे ।’

स चन्द्रमा भव्य-कुमुदतीनां
विपन्न-दोषाऽभ्र-कलङ्क-लेपः ।
व्याकोश-वाहू-न्याय-मयूख-मालः
पूयात्पवित्रो भगवान्मनो मे ॥५॥ (४०)

‘वे दोषा—रात्रि, अभ्र—मेघ और कलंक—मृगछालादिके
लेपसे रहित अथवा रागादिक दोषरूप अभ्र-कलंकके आवरणसे

वर्जित और सुस्पष्ट वचनोंके प्रणायनरूप—स्याद्रादत्यायरूप—
किरणमालासे युक्त, भव्य-कुमुदनियोंके लिए (अपूर्व) चन्द्रमा, ऐसे
पवित्र भगवान् श्रीचन्द्रप्रभ-जिन मेरे मनको पवित्र करें—उनके
वन्दन, कीर्तन, पूजन, भजन, स्मरण और अनुसरणरूप सम्यक् आराधनसे
मेरा मन पवित्र होवे ।

६

श्रीसुविधि-जिन-स्तवन

—*—*—*—*

एकान्तदृष्टि-प्रतिषेधि तत्त्वं
प्रमाण-सिद्धं तदत्त्वभावम् ।
त्वया प्रणीतं सुविधे ! स्वधाम्ना
नैतत्सपालीढ़-पदं त्वदन्यैः ॥ १ ॥

‘ (शोभन-विधि-विधानके प्रतिपादन-द्वारा अन्वर्थ संज्ञाके धारक)
हे सुविधि (पुष्टदन्त) जिन ! आपने अपने ज्ञान-तेजसे उस प्रमाण-
सिद्ध तत्त्वका प्रणायन किया है जो सत्-असत् आदिरूप विव-
क्षिताऽविवक्षित स्वभावको लिये हुए है और एकान्तदृष्टिका प्रति-
षेधक है—अनेकान्तात्मक होनेसे किसीकी भी इस एकान्त-मान्यताको
स्वीकार नहीं करता कि वस्तुतत्व सर्वथा (स्वरूप और पररूप दोनोंसे ही)
मत (विधि) आदि रूप है । यह् सपालीढ़ पद—सम्यक् अनुभूत तत्त्व-
का प्रतिपादक ‘तदत्त्वभाव’ जैसा पद—आपसे भिन्न मत रखनेवाले
दूसरे मतप्रवर्तकोंके द्वारा प्रणीत नहीं हुआ है ।’

तदेव च स्यान् तदेव च स्यात्
 तथा प्रतीते स्तव र्तकथञ्चित् ।
 नाऽत्यन्तमन्यत्वमनन्यता च
 विधेर्निषेधस्य च शून्य-दोषात् ॥ २ ॥

‘(हे मुविधि जिन !) आपका वह तत्त्व कथंचित् तद्रूप (सद्रूप) है और कथंचित् तद्रूप नहीं (असद्रूप) है; क्योंकि (स्वरूप-पररूपकी अपेक्षा—उसके द्वारा) वैसी ही सत-असतरूपकी प्रतीति होती है। भवरूपादि-चतुष्टयरूप विधि और पररूपादि-चतुष्टयरूप निषेधके परस्परमें अत्यन्त (सर्वथा) भिन्नता तथा अभिन्नता नहीं है; क्योंकि सर्वथा भिन्नता या इभिन्नता माननेपर शून्य-दोष आता है— अविनाभाव-सम्बन्धके कारण विधि और निषेध दोनोंमेंसे किसीका भी तब अस्तित्व बन नहीं सकता, संकर दोषके भी आ उपस्थित होनेसे पदा-शर्तोंकी कोई व्यवस्था नहीं रहती, और इसलिए वस्तुतत्वके लोपका प्रसङ्ग आ जाता है।’

नित्यं तदेवेदमिति प्रतीते-
 न नित्यमन्य-प्रतिपत्ति-सिद्धेः ।
 न तद्रिरुद्रं वदिरन्तरङ्ग-
 निमित्त-नैमित्तिक-योगतम्ते ॥ ३ ॥

‘यह वही है, इस प्रकारकी प्रतीति होनेसे वस्तुतत्त्व नित्य है और यह वह नहीं—अन्य है, इस प्रकारकी प्रतीतिकी सिद्धिसे वस्तुतत्त्व नित्य नहीं—अनित्य है। वस्तुतत्वका नित्य और अनित्य दोनोंरूप होना तुम्हारे मतमें विरुद्ध नहीं है; क्योंकि वह वहिरङ्ग

निमित्ता—सहकारी कारण, अन्तरङ्ग निमित्ता—उपादान कारण, और नैमित्ताक—निमित्तोंसे उत्पन्न होनेवाले कार्यके—सम्बन्धको लिये हुए हैं—द्रव्यस्वरूप अन्तरङ्ग कारणके सम्बन्धकी अपेक्षा नित्य है और द्वेषादिरूप वाच्य कारण तथा परिणाम-पर्यायरूप कार्यकी अपेक्षा अनित्य है।'

अनेकमेकं च पदस्य वाच्यं
वृक्षा इति प्रत्ययवत्प्रकृत्या ।
आकांक्षिणः स्यादिति वै निपातो
गुणाऽनपेक्षे नियमेऽपवादः ॥ ४ ॥

‘पदका वाच्य—शब्दका अभिधेय—प्रकृतिसे—स्वभावसे—एक और अनेक दोनोंरूप है—सामान्य और विशेषमें अथवा द्रव्य और पर्यायमें अभेद-विवक्षाके होनेपर एकरूप है और भेद-विवक्षाके होनेपर अनेकरूप है—‘वृक्षा’ इस पदज्ञानकी तरह। अर्थात् जिस प्रकार ‘वृक्षा’ यह एक व्याकरण-सिद्ध वहुचनान्त पद है, इसमें जहाँ वृक्षल्व—सामान्यका बोध होता है वहाँ वृक्ष-विशेषोंका भी बोध होता है। वृक्षल्व—वृक्षपना अर्थात् वृक्षजाति(वृक्षसामान्य)की अपेक्षा इसका वाच्य एक है और वृक्षविशेषकी—आम, अनार, शीशम, जामुन आदिकी—अपेक्षा इसका वाच्य अनेक है; क्योंकि कोई भी वृक्ष हो उसमें सामान्य और विशेष दोनों धर्म रहते हैं, उनमेंसे जिस संमय जिस धर्मकी विवक्षा होती है उस समय वह धर्म मुख्य होता है और दूसरा (अविर्वाक्षत) गौण; परन्तु जो धर्म गौण होता है वह उस विवक्षाके समय कहीं चला नहीं जाता—उसी वृक्ष-वस्तुमें रहता है, कालान्तरमें वह भी मुख्य हो सकता है। जैसे ‘आम्रा’ कहने पर जब ‘आम्रत्व’ धर्म मुख्य होकर विवक्षित होता है तब ‘वृक्षत्व’ नामका सामान्यधर्म उससे अलग नहीं हो जाता—वह भी उसीमें रहता है। और जब

‘आग्रा’ पदमें आम्रत्व—सामान्यरूपसे विवक्षित होता है तब आम्रके विशेष देशी, कूलमी, लंगड़ा, माल्दा, फज्जली आदि धर्म गौण (अविवक्षित) हो जाते हैं और उसी आम्रपदमें रहते हैं। यही बात द्रव्य और पर्यायकी विवक्षा-अविवक्षाकी होती है। एक ही वृक्ष द्रव्य-सामान्यकी अपेक्षा एकरूप है तो वही अंकुरादि पर्यायोंकी अपेक्षा अनेक रूप है। दोनोंमें जिस समय जो क्षिक्षित होता है वह मुख्य और दूसरा गौण कहलाता है। इस तरह प्रत्येक पदका वाच्य एक और अनेक दोनों ही होते हैं।

(यदि पद-शब्दका वाच्य एक और अनेक दोनों हों तो ‘अस्ति’ कहनेपर ‘नास्तित्व’ के भी बोधका प्रसंग आनेसे दूसरे पद ‘नास्ति’ का प्रयोग निरर्थक ठहरेगा, अथवा स्वरूपकी तरह पररूपसे भी अस्तित्व कहना होगा। इसी तरह ‘नास्ति’ कहनेपर ‘अस्तित्व’ के भी बोधका प्रसंग आएगा, दूसरे ‘अस्ति’ पदका प्रयोग निरर्थक ठहरेगा अथवा पररूपकी तरह स्वरूपसे भी नास्तित्व कहना होगा। इस प्रकारकी शंकाका समाधान यह है—) अनेकान्तात्मक वस्तुके अस्तित्वादि किसी एक धर्मका प्रतिपादन करनेपर उस समय गौणभूत नास्तित्वादि दूसरे धर्मके प्रतिपादनमें जिसकी आकांक्षा रहती है ऐसे आकांक्षी-सापेक्षवादी अथवा स्याद्वादीका ‘स्यात्’ यह निपात—‘स्यात्’ शब्दका साथमें प्रयोग—गौणकी अपेक्षा न रखने वाले नियममें—सर्वथा एकान्त मतमें—निश्चित रूपसे बाधक होता है—उस सर्वथाके नियमको चरितार्थ नहीं होने देता जो स्वरूपकी तरह पररूपके भी अस्तित्वका और पररूपकी तरह स्वरूपके भी नास्तित्वका विधान करता है (और इस लिये याँ उक्त प्रकारकी शंकाको कोई स्थान नहीं रहता)।

गुण-प्रधानार्थमिदं हि वाक्यं
जिनस्य ते तद्द्विषतामपथ्यम् ।

ततोऽभिवन्द्यं जगदीश्वराणां

मृमाडपि साधोस्तथ पादपञ्चम् ॥ ५ ॥ (४५)

‘हे सुविधि-जिन ! आपका यह ‘स्यात्’ पदरूपसे प्रतीयमान वाक्य मुख्य और गौणके आशयको लिये हुए है—विवक्षित और अविवक्षित दोनों ही धर्म इसके बाब्य हैं—अभिवेद्य हैं । आपसे—आपके अनेकान्त-मतसे—द्वेष रखने वाले सर्वथा एकान्त-वादियोंके लिये यह वाक्य अपश्यरूपसे अनिष्ट है—उनकी सैद्धान्तिक प्रकृतिके विरुद्ध है; क्योंकि दोनों धर्मोंका एकान्त स्वीकार करनेसे उनके यहाँ विरोध आता है । चूँकि आपने ऐसे सातिशय तत्त्वका प्रणयन किया है इसलिये हे साधो ! आपके चरण कमल जगदीश्वरों—इन्द्र-चक्रवर्त्यादिकों—के द्वारा बन्दनीय हैं, और मेरे भी द्वारा बन्दनीय हैं ।’

१०

श्रीशीतल-जिन-स्तवन

—०००—

न शीतलाश्वन्दनचन्द्ररशमयो
न गाङ्गपम्भो न च हारयष्टयः ।
यथा मुनेस्तेऽनघ ! वाक्य-रशमयः†
शमाम्बुगर्भाः शिशिरा विपश्चिताम् ॥१॥

‘हे अनघ !—निरवद्य-निर्दोष श्रीशीतल-जिन !—आप प्रत्यक्ष-

† ‘अनघ-वाक्य-रशमयः’ इति पाठान्तरम् ।

ज्ञानी-मुनिकी प्रशम-जलसे भरी हुई वाक्य-रश्मियाँ—यथावत् अर्थस्वरूपकी प्रकाशक वचन-किरणावलियाँ—जिस प्रकारसे—संसार-तापको मिटाने रूपसे—विद्वानोंके लिये—हेयोपादेय-तत्त्वका विवेक रखनेवालोंके वास्ते—शीतल हैं—शान्तिप्रद हैं—उस प्रकार न तो चन्दन तथा चन्द्रमाकी किरणें शीतल हैं, न गंगाका जल शीतल है और न मोतियोंके हारकी लड़ियाँ ही शीतल हैं—कोई भी इनमें से भव-आताप-जन्य दुःखको मिटानेमें समर्थ नहीं है।^१

सुखाऽभिलाषाऽनल-दाह-मूर्च्छितं
मनो निजं ज्ञानमयाऽमृताऽम्बुभिः ।
व्यदिध्यप्रस्त्वं विष-दाह-मोहितं
यथा भिषग्मन्त्र-गुणैः स्व-विग्रहम् ॥२॥

जिस प्रकार वैद्य विष-दाहसे मूर्च्छित हुए अपने शरीरको विषापहार मन्त्रके गुणोंसे—उसकी अमोघशक्तियोंसे—निर्विष एवं मूर्छा-रहित कर देता है उसी प्रकार (हे शीतल जिन !) आपने सांसारिक सुखोंकी अभिलाषा-रूप अग्निके दाहसे—चतुर्गति-सम्बन्धी दुःखसंतापसे—मूर्च्छित हुए—हेयोपादेयके विवेकसे विमुख हुए—अपने मनको—आत्माको—ज्ञानमय अमृत-जलोंके सिचनसे मूर्छा-रहित शान्त किया है—पूर्ण विवेकको जाग्रत करके उसे उत्तरोत्तर संतापप्रद सासारिक सुखोंकी आंभलापासे सुकृ विया है।^१

स्व-जीविते काम-सुखे च तृष्णया
दिवा श्रमाच्च निशि शेरते प्रजाः ।

त्वर्मार्य ! नक्षं-दिवमप्रमत्तवा-
नजागरेवाऽऽत्म-विशुद्ध-वर्त्मनि ॥ ३ ॥

‘अपने जीनेकी तथा काम-सुखकी तृष्णाके वशीभूत हुए
लौकिक जन दिनमें श्रमसे पीडित रहते हैं—सेवा-कृष्णादिजन्य
क्लेश-खेदसे अभिभूत बने रहते हैं—और रातमें सो जाते हैं—अपने
आत्माके उद्धारकी ओर उनका प्रायः कोई लक्ष्य ही नहीं होता । परन्तु
हे आर्य-शीतल-जिन ! आप रात-दिन प्रमादरहित हुए आत्माकी
विशुद्धिके मार्गमें जागते ही रहे हैं—आत्मा जिससे विशुद्ध होता है—
मोहादि कर्मांसे राहित हुआ स्वरूपमें स्थित एवं पूर्ण विकसित होता है—
उस सम्पर्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्गके अनुष्ठानमें सदा सावधान
रहे हैं ।’

अपत्य-वित्तोत्तर-लोक-तृष्णाया
तपस्विनः केचन कर्म कुर्वते ।
भवान्पुनर्जन्म-जरा-जिहासया
त्रयीं प्रवृत्तिं समधीरवारुणत् ॥ ४ ॥

‘कितने ही तपस्वीजन संतान, धन तथा उत्तरलोक (परलोक
या उत्कृष्ट लोक) की तृष्णाके वशीभूत हुए—पुत्रादिकी प्राप्तिके लिए,
धनकी प्राप्तिके लिए अथवा स्वर्गादिकी प्राप्तिके लिये—(अग्निहोत्रादिक
यज्ञ) कर्म करते हैं; (परन्तु हे शीतल-जिन !) आप समभावी हैं—
सन्तान, धन तथा उत्तरलोककी तृष्णासे राहत हैं—आपने पुनर्जन्म
और जराको दूर करनेकी इच्छासे मन-वचन-काय तीनोंकी
प्रवृत्तिको रोका है—तीनोंकी स्वच्छन्द प्रवृत्तिको हटाकर उन्हें स्वात्मा-

धीन किया है और इस तरह आत्मविकासकी उच्च स्थितिपर पहुँचकर योग-निरोध-द्वारा न मनसे कोई कर्म होने दिया, न बचनसे और न शरीरसे । भावार्थ—मन-बचन-कायकी प्रवृत्तिको योग कहते हैं । इस योगसे आत्मा-में कर्मका आखल तथा बन्ध होता है, जो पुनर्जन्मादिरूप-संसारपरिभ्रमण-का हेतु है । अतः आपने सो इस योगरूप कर्मको रोककर अथवा स्वाधीन बनाकर संसार-परिभ्रमणसे छूटनेका यत्न किया है, जबकि दूसरे तपस्त्वयोंने सांसारिक इच्छाओंके वशीभूत होकर अग्निहोत्रादि कर्म करके संसार-परिभ्रमणका ही यत्न किया है । दोनोंकी इन प्रवृत्तियोंमें कितना बड़ा अन्तर है !

त्वमुत्तम-ज्योतिरजः क निर्वृतः
क तै परे बुद्धि-लवोद्धव-क्षताः ।
ततः स्वनिःश्रेयस-भावनापरै-
वृध-प्रवेकैर्जिन ! शीतलेष्यसे ॥ ५ ॥ (५०)

‘हे शीतल जिन ! कहाँ तो आप उत्तमज्योति—परमात्मशयको प्राप्त केवलज्ञानके धनी—, अजन्मा—पुनर्जन्मसे रहित—और निर्वृत्त-सांसारिक इच्छाओंसे रहित सुखीभूत ! और कहाँ वे दूसरे—प्रसिद्ध अन्य देवता अथवा तपस्वी—जो लेशमात्र ज्ञानके मदसे नाशको प्राप्त हुए हैं—सांसारिक विषयोंमें अत्यासक्त होकर दुःखोंमें पड़े हैं और आत्म-स्वरूपसे विमुख एवं पतित हुए हैं !! इसीलिये श्रेष्ठने कल्याणकी भावनामें तत्पर—उसे साधनेके लिए सम्यग्दर्शनादिके अभ्यासमें पूर्ण सावधान—वृधश्रेष्ठों—गणधरादिक देवों—के द्वारा आप पूजे जाते हैं ।’

११

-श्रीश्रेयो-जिन-स्तवन

—*****—

श्रेयान् जिनः श्रेयसि वर्त्मनीमाः
 श्रेयः प्रजाः शासदजेर्यवाक्यः ।
 भवांश्वकाशे भुवनत्रयेऽस्मि-
 न्नेको यथा वीत-घनो विवस्यान् ॥ १ ॥

‘हे अजेयवाक्य—अबाधित वचन—श्रेयो जिन ! —सम्पूर्ण कषायों, इन्द्रियों अथवा कर्म शत्रुओंको जीतनेवाले—श्रीश्रेयांसं तीर्थीकर ! आप इन श्रेयप्रजाजनोंको—भव्यजीवोंको—श्रेयोमार्गमें अनुशासित करते हुए—मोक्षमार्गपर लगाते हुए—विगत-घन-सूर्यके समान अकेले ही इस त्रिभुवनमें प्रकाशमान हुए हैं । —अर्थात् जिस प्रकार मेघके पटलोंसे रहित सूर्य अपनी अप्रतिहत किरणोंद्वारा अकेला ही अन्धकारसमूहका विधातक बनकर, दृष्टि-शक्तिसे सम्पन्न नेत्रोंवाली प्रजाको इष्ट स्थानकी प्राप्तिका निमित्तभूत सन्मार्ग दिखलाता हुआ, जगत्-में शोभाको ग्रास होता है उसी प्रकार ज्ञानावरणादि धातिकर्म-चतुष्यसे रहित आप अकेले ही, अज्ञानान्धकारके प्रसारको विनष्ट करनेमें समर्थ बनकर अपने अबाधित वचनोंद्वारा भव्य-जनोंको मोक्षमार्गका उपदेश देते हुए, इस त्रिलोकीमें शोभाको ग्रास हुए हैं ।

विधिर्विषक्त-प्रतिषेधरूपः

ग्रमणमत्राऽन्यतरत्प्रधानम् ।

**गुणोऽपरो मुख्य-नियामहेतु-
नयः स दृष्टान्तसमर्थनस्ते ॥ २ ॥**

‘(हे श्रेयास जिन !) आपके मतमें वह विधि—स्वरूपादि-चतुष्टयसे अस्तित्व—प्रमाण है (प्रमाणका विपय होनेसे) जो कथंचित् तादात्म्य सम्बन्धको लिये हुए प्रतिषेध रूप है—पररूपादिचतुष्टय-की अपेक्षा नास्तिन्वरूप भी है—तथा इन विधि-प्रतिषेध दोनोंमेंसे कोई एक प्रधान (मुख्य) और दूसरा गौण होता है (वकाके अभिप्रायानुसार न कि स्वरूपसे*)। और मुख्यके—प्रधानरूप विधि अथवा निषेधके—नियमका ‘स्वरूपादिचतुष्टयसे ही विधि और पररूपादि-चतुष्टयसे ही निषेध’ इस नियमका—जो हेतु है वह नय है (नयका विपय होनेसे) और वह नय दृष्टान्त-समर्थन होता है—दृष्टान्तसे समर्थित अथवा दृष्टान्तका समर्थक (उसके असाधारण स्वरूपका निरूपक) होता है।

**विवक्षितो मुख्य इतीष्यतेऽन्यो
गुणोऽविवक्षो न निगत्मकस्ते ।
तथाऽरिमित्राऽनुभयादिशक्ति
द्वयाऽवधेः कार्यकरं हि वस्तु ॥ ३ ॥**

‘(हे श्रेयांस जिन !) आपके मतमें जो विवक्षित होता है—कहने के लिये इष्ट होता है—वह ‘मुख्य (प्रधान)’ कहलाता है, दूसरा जो अविवक्षित होता है—जिसका कहना इष्ट नहीं होता—वह ‘गौण’

* स्वरूपसे प्रधान अथवा गौण मानने पर उसके सदाकाल तद्रूप बने रहनेका प्रसंग आएगा, और यह बात बनती नहीं; क्योंकि प्रत्यक्षादिके साथ इसका विरोध है।

कहलाता है, और जो अविवक्षित होता है वह निरात्मक (अभावरूप) नहीं होता—उसकी सत्ता अवश्य होती है। इस प्रकार मुख्य-गौण-की व्यवस्थासे एक ही वस्तु शत्रु, मित्र और अनुभयादि शक्तियों को लिये रहती है—एक ही व्यक्ति एक का मित्र है (उपकार-करनेसे), दूसरेका शत्रु है (अपकार करनेसे), तीसरेका शत्रु-मित्र दोनों है (उपकार-अपकार करनेसे) और चौथेका न शत्रु है न मित्र (उसकी ओर उष्णाधारण करनेसे), और इस तरह उसमें शत्रु-मित्रादिके गुण युग्मत् रहते हैं। वास्तवमें वस्तु दो अवधियों (मर्यादाओं) से कार्यकारी होती है—विधि-निषेधरूप, सामान्य-विशेषरूप अथवा द्रव्य-पर्यायरूप दो दो सापेक्ष धर्मोंका आश्रय लेकर ही अर्थक्रिया करनेमें प्रवृत्त होती है और अपने यथार्थ स्वरूपकी प्रतिष्ठापक बनती है।'

दृष्टान्त-सिद्धावुभयोर्पिंचादे ~

साध्यं प्रसिद्ध्येन्न तु ताद्यगस्ति ।
यत्सर्वथैकान्त-नियामि दृष्टं
त्वदीय-दृष्टिविभवत्यशेषे ॥ ४ ॥

‘वादी प्रतिवादी दोनोंके विवादमें दृष्टान्त (उदाहरण) की सिद्धि होनेपर साध्य प्रसिद्ध होता है—जिसे सिद्ध करना चाहते हैं उसकी भले प्रकार सिद्धि होजाती है—, परन्तु वैसी कोई दृष्टान्तभूत वस्तु है ही नहीं जो (उदाहरण बनकर) सर्वथा एकान्तकी नियामक दिखाई देती हो। क्योंकि आपकी अनेकान्त-दृष्टि सबमें—साध्य, साधन और दृष्टान्तादिमें—अपना प्रभाव डाले हुए है—वस्तुमात्र अनेकान्तात्मकत्वसे व्याप्त है, इसीसे सर्वथा एकान्तवादियोंके मतमें ऐसा कोई दृष्टान्त ही नहीं बन सकता जो उनके सर्वथा एकान्तका नियामक हो और इस लिए उनके सर्वथा नित्यात्मादिरूप साध्यकी सिद्धि नहीं बन संकती।’

एकान्त-दृष्टि-प्रतिषेध-सिद्धि-
 न्यायेषुभिः*मोहरिपुं निरस्य ।
 असि स्म कैवल्य-विभूति-सम्राट्
 ततस्त्वमहं न्नसि मे स्तवाऽहः ॥ ५ ॥ (५५)

‘हे अर्हन्—श्रेयो जिन ! आप एकान्त दृष्टिके प्रतिषेधकी सिद्धि-रूप न्यायवाणोंसे—तत्त्वज्ञानके सम्यक् प्रहारोंसे—मोह-शत्रुका अथवा मोहकी प्रधानताको लिये हुए ज्ञानावरणादिरूप शत्रु-समूहका—घातिकर्म-चतुष्टयका—नाश करके कैवल्य-विभूतिके—केवलज्ञानके साथ साथ समवसरणादि विभूतिके—सम्राट् हुए हैं । इसीसे आप मेरी स्तुतिके योग्य हैं ।—मैं भी एकान्तदृष्टिके प्रतिषेधकी सिद्धिका उपासक हूँ और उसे पूर्णतया सिद्ध करके मोह शत्रुका नाश कर देना चाहता हूँ, तथा कैवल्यविभूतिका सम्राट् बनना चाहता हूँ, अतः आप मेरे लिए आदर्शरूपमें पूज्य हैं—स्तुत्य हैं ।’



* ‘सिद्धिन्यायेषुभिः’ सम्पादनमें उपयुक्त प्रतियोंका पाठ ।

१२

श्रीवासुपूज्य-जिन-स्तवन

—*; ०; *—

श्रीवासु पूज्योऽभ्युदय-क्रियासु
 त्वं वासुपूज्यस्त्रिदशेन्द्र-पूज्यः ।
 मयाऽपि पूज्योऽल्प-विद्या मुनीन्द्र !
 दीपाचिषा किं तपनो न पूज्यः ॥ १ ॥

‘हे (वसुपूज्य-सुत) श्रीवासुपूज्य मुनीन्द्र ! आप शिवस्वरूप अभ्युदयक्रियाओंमें पूज्य हैं—मङ्गलमय स्वर्गवितरणादि कल्याणक-क्रियाओंके अवसरपर पूजाको प्राप्त हुए हैं,—त्रिदशेन्द्रपूज्य हैं—देवेन्द्रोंके द्वारा पूजे गये हैं, पूजे जाते हैं—और मुझ अल्पबुद्धिके द्वारा भी पूज्य हैं—मैं भी स्तुत्यादिके रूपमें आपकी पूजा किया करता हूँ । (अल्प बुद्धिके द्वारा पूजा जाना कोई असंगत बात भी नहीं है, क्योंकि) दीप-शिखाके द्वारा क्या सूर्य पूजा नहीं जाता ?—पूजा ही जाता है । लोग दीपक जलाकर सूर्यकी आरती उतारते हैं, दीप-शिखासे उसकी पूजा करते हैं ।’

न पूज्याऽर्थस्त्वयि वीतरागे
 न निन्द्या नाथ ! विवान्त-वैरे ।
 तथाऽपि ते पुण्य-गुण-स्मृतिर्नः
 पुनातिश्चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥ २ ॥

* ‘पुनातु’ सम्पादनमें उपयुक्त प्रतिवोका पाठ ।

‘हे भगवन् ! पूजा-बन्दनासे आपका कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि आप वीतरागी हैं—रागुका अंश भी आपके आत्मामें विद्यमान नहीं है, जिसके कारण किसीकी पूजा-बन्दनासे आप प्रसन्न होते । (इसी तरह) निन्दासे भी आपका कोई प्रयोजन नहीं है—कोई कितना ही आपको बुरा कहे, गालियाँ दे, परन्तु उसपर आपको ज़रा भी झेंभ नहीं आसकता; क्योंकि आपके आत्मासे वैरभाव—द्रेषांश—बिल्कुल निकल गया है—वह उसमें विद्यमान ही नहीं है—, जिससे द्वोभ तथा अप्रसन्नतादि कार्योंका उद्भव हो सकता । ऐसी हालतमें निन्दा और सुन्ति दोनों ही आपके लिए समान हैं—उनसे आपका कुछ भी बनता या बिगड़ता नहीं हैं । फिर भी आपके पुण्य-गुणोंका स्मरण हमारे चित्तको पाप-मलोंसे पवित्र करता है ।—और इस लिये हम जो आपकी पूजा-बन्दनादि करते हैं यह आपके लिए नहीं—आपको प्रसन्न करके आपकी कृपा सम्पादन करना या उसके द्वारा आपको लाभ पहुँचाना, यह सब उसका ध्येय ही नहीं है । उसका ध्येय है आपके पुण्यगुणोंका स्मरण—भावपूर्वक अनुचिन्तन—, जो हमारे चित्तको—चिद्रूप आत्माको—पाप-मलोंसे छुड़ा-कर निर्मल एवं पवित्र बनाता है, और इस तरह हम उसके द्वारा अपने आत्माके विकासकी साधना करते हैं । अतः वह आपकी पूजा-बन्दना हम अपने ही हितके लिये करते हैं ।’

पूज्यं जिनं त्वाऽर्चयतो जनस्य
सावद्य-लेशो बहु-पुण्य-राशौ ।
दोषाय नाऽलं कणिका विषस्य
न दूषिका शीत-शिवाऽम्बुराशौ ॥ ३ ॥

‘हे पूज्य जिन श्रीवासुपूज्य ! आपकी पूजा करते हुए प्राणी-

के जो सावधालेश होता है—सरागपरिणति तथा आरभादिक-द्वारा लेशमात्र पापका उपार्जन होता है—ब्रह्म (भावपूर्वक की दुई पूजासे उत्पन्न होने वाली) बहुपुण्य-राशिमें दोषका कारण नहीं बनता—पञ्चुर-पुण्य-पुञ्जसे हतवीर्य हुआ वह पाप उस पुण्यको दूषित करने अथवा पाप-रूप परिणत करनेमें समर्थ नहीं होता। (सो ठीक ही है) विषकी एक कणिका शीतल तथा कल्याणकारी जलसे भरे हुए समुद्रको दूषित नहीं करती—उसे प्राणधातक विष-धर्मसे युक्त विषैला नहीं बनाती।

यद्वस्तु बाह्यं गुण-दोष-सूते-
निमित्तमभ्यन्तर-मूलहेतोः ।
अध्यात्म-वृत्तस्य तदङ्गभूतं-
मभ्यन्तरं केवलमप्यलं न इ ॥ ४ ॥

‘जो बाह्य वस्तु गुण-दोषकी—पुण्य—पापादिरूप उपकार-अपकार-की—उत्पत्तिका निमित्त होती है वह अन्तरङ्गमें वर्तनेवाले गुण-दोषोंकी उत्पत्तिके अभ्यन्तर मूल हेतुकी—शुभाऽशुभादि-परिणाम-लक्षण उपादानकारणकी—अंगभूत—सहकारी कारणभूत—होती है (और इस कारण मूल कारण शुभाऽशुभादि-परिणामके अभावमें सहकारीकारणरूप कोई भी बाह्य वस्तु पुण्य-पापादिरूप गुण-दोषकी जनक नहीं)। बाह्य वस्तुकी अपेक्षा न रखता हुआ केवल अभ्यन्तर कारण भी—अकेला जीवादि किसी द्रव्यका परिणाम भी—गुण-दोषकी उत्पत्तिमें समर्थ नहीं है।’

‘ते’ सम्पादनमें उपयुक्त प्रतियोंका पाठ।

बाह्यतरोपाधि-समग्रतेयं
 कार्येषु ते द्रव्यगतिः स्वभावः ।
 नैवाऽन्यथा मोक्ष-विधिश्च पुंसां
 तेनाऽभिवृन्द्यस्त्वमृषिर्बुधानाम् ॥५॥ (६०)

— कार्योंमें बाह्य और आम्यन्तर—सहकारी और उपादान—
 दोनों कारणोंकी जो यह पूर्णता है वह आपके मतमें द्रव्यगत
 स्वभाव है—जीवादि-पदार्थगत अर्थ-क्रिया-कारित्वस्वरूप है। अन्यथा—
 इस समग्रता अर्थात् द्रव्यगत स्वभावके बिना अन्य प्रकारसे—पुरुषोंके
 मोक्षकी विधि भी नहीं बनती—घटादिकका विधान ही नहीं किन्तु
 मुकिका विधान भी नहीं बन सकता। इसीसे परमद्विं-सम्पन्न ऋषि—
 वासु पूज्य ! आप बुधजनोंके अभिवृन्द्य हैं—गणधरादि विबुधजनोंके
 द्वारा पूजा—वन्दना किये जानेके योग्य हैं ।

१३

श्रीविमल-जिन-स्तवन

य एव नित्य-क्षणिकादयो नया
 मिथोऽनपेक्षाः स्व-पर-प्रणाशिनः ।
 त एव तत्त्वं विमलस्य ते मुनेः
 परस्परेक्षाः स्व-परोपकारिणः ॥१॥

‘जो ही नित्य-क्षणिकादिक नय परस्परमें अपेक्षा (स्वतंत्र)

होनेसे—एक दूसरेकी अपेक्षा न रखकर स्वतंत्रभावसे सर्वथा नित्य-क्षणि-
कादिरूप वस्तुत्वका कथन करनेके कारण—(परमतोमें) स्वपरप्रणाशी
है—निज और पर दोनोंका नाश करनेवाले स्व-पर-बैरी हैं, और इसलिए
दुनंय हैं । वे ही नय, हे प्रत्यज्ञानी विमल जिन ! आपके मतमें
परस्परक्ष (परस्परतंत्र) होनेसे—एक दूसरेकी अपेक्षा रखनेसे स्व-
पर-उपकारी हैं—अपना और परका दोनोंका भला करनेवाले—दोनोंका
अस्तित्व बनाये रखनेवाले स्व-पर-मित्र हैं, और इसलिए तत्त्वरूप-
सम्यक् नय हैं ।’

यथैकशः कारकमर्थ-सिद्धये
समीक्ष्य शेषं स्व-सहाय-कर्मकम् ।
तथैव सामान्य-विशेष-मृतुका
नयास्तवेष्टा गुण-मुख्य-कल्पतः ॥२॥

‘जिस प्रकार एक एक कारक—उपादानकारण या निमित्तकारण
अथवा कर्ता, कर्म आदि कारकोंमेंसे प्रत्येक—शेष—अन्यको अपना सहाय-
करूप कारक अपेक्षित करके अर्थकी सिद्धिके लिये समर्थ होता
है, उसी प्रकार (हे विमलजिन !) आपके मतमें सामान्य और
विशेषसे उत्पन्न होनेवाले अथवा सामान्य और विशेषको विषय
करनेवाले (द्रव्यार्थिक, पर्यार्थिक आदि रूप) जो नय हैं वे मुख्य
और गौणकी कल्पनासे इष्ट (अभिग्रेत) हैं ।—प्रयोजनके वश
सामान्यकी मुख्यरूपसे कल्पना (विवक्षा) होनेपर विशेषकी गौणरूपसे
और विशेषकी मुख्यरूपसे कल्पना होनेपर सामान्यकी गौणरूपसे कल्पना
होती है, एक दूसरेकी अपेक्षाका कोई छोड़ता नहीं; और इस तरह सभी

नय् सापेक्ष होकर अपने अर्थकी सिद्धरूप विवक्षित अर्थके परिज्ञानमें समर्थ होते हैं ।

परस्परेक्षाऽन्वय-भेद-लिङ्गतः
प्रसिद्ध-सामान्य-विशेषयोस्तत्र ।
समग्रताऽस्ति स्व-पराऽवभासकं
यथा प्रमाणं भुवि बुद्धि-लक्षणम् ॥३॥

‘परस्परमें एक दूसरेकी अपेक्षाको लिये हुए जो अन्वय (अभेद) और भेद (व्यतिरेक) का ज्ञान होता है उससे प्रसिद्ध होनेवाले सामान्य और विशेषकी (हे विमल जिन !) आपके मतमें उसी तरह समग्रता (पूर्णता) है जिस तरह कि भूतलपर बुद्धि (ज्ञान)-लक्षण प्रमाण स्व-पर-प्रकाशक-रूपमें समग्र (पूर्ण-सकलादेशी) है—अर्थात् जिस प्रकार सम्यग्ज्ञान-लक्षण प्रमाण लोकमें स्व-प्रकाशकत्व और पर-प्रकाशकत्वरूप दो धर्मोंसे युक्त हुआ अपने विषयमें पूर्ण होता है और उसके ये दोनों धर्म परस्परमें विरुद्ध न होकर सापेक्ष होते हैं—स्व-प्रकाशकत्वके विना पर-प्रकाशकत्व और पर-प्रकाशकत्वके विना स्व-प्रकाश-कत्व बनता ही नहीं—उसी प्रकार एक वस्तुमें विशेषण-विशेष्य-भावसे प्रवर्तमान सामान्य और विशेष ये दो धर्म भी परस्पर में विरोध नहीं रखते, किन्तु अविरोधरूपसे सापेक्ष होते हैं—सामान्यके विना विशेष और विशेष-के विना सामान्य अपूर्ण है अथवा यों कहाहे कि बनता ही नहीं—और इसलिये दोनोंके मलसें ही वस्तुमें पूर्णता आती है ।’

विशेष्य-वाच्यस्य विशेषणं वचो
यतो विशेष्यं विनियम्यते च यत् ।

तयोरुच सामान्यमतिप्रसज्यते

विवक्षितात्स्यादिति तेऽन्यवर्जनम् ॥४॥

‘वाच्यभूत विशेष्यका—सामान्य अथवा विशेषका—वह वचन जिससे विशेष्यको नियमित किया जाता है—विशेषणकी नियतरूपता-के साथ अवधारण किया जाता है—‘विशेषण’ कहलाता है और जिसे नियमित किया जाता है वह ‘विशेष्य’ है। विशेषण और विशेष्य दोनोंके सामान्यरूपताका जो अतिप्रसंग आता है वह (हे विमल जिन !) आपके मतमें नहीं बनता; क्योंकि विवक्षित विशेषण-विशेष्यसे अन्य अविवक्षित विशेषण-विशेष्यका ‘स्यात्’ शब्दसे वर्जन (परिहार) होजाता है—‘स्यात्’ शब्दकी सर्वथा प्रतिष्ठा रहनेसे अविवक्षित विशेषण-विशेष्यका ग्रहण नहीं होता, और इसलिये अतिप्रसंग दोष नहीं आता ।’

नयास्तव स्यात्पद-सत्य-लाञ्छिता

रसोपविद्वा इव लोह-धातवः ।

भवन्त्यमिप्रेत-गुणा यतस्तो

भवन्तमार्याः प्रणताः* हितैषिणः ॥५॥ (६५)

‘(हे विमल जिन !) आपके मतमें जो (नित्य-क्षीणकादि) नय हैं वे सब स्यात्पदरूपी सत्यसे चिह्नित हैं—कोई भी नय ‘स्यात्’ शब्दके आशय (कथञ्चित्के भाव) से शून्य नहीं है, भले ही ‘स्यात्’ शब्द साथमें लगा हुआ हो या न हो—और रसोपविद्व लोह-धातुओं-के समान—पारेसे अनुविद्व हुई लोहा-ताम्रा आदि धातुओंकी तरह—

* ‘प्रणता’ इति पाठान्तरम् ।

अभिमत फलको फलते हैं—यथा स्थित वस्तुतत्त्वके प्रखण्डमें समर्थ होकर सन्मार्गपर ले जाते हैं। इसीसे अपना हित चाहनेवाले आर्य-जनोंने आपको प्रणाम किया है—उत्तम पुरुष सदा ही आपके सामने नत-मस्तक हुए हैं।’

१४

श्रीअनन्तजित्-जिन-स्तवन

—*०::०*—

अनन्त-दोषाऽशय-विग्रहो ग्रहो
विषङ्गवान्मोह-मयश्चिरं हृदि ।
यतो जितस्तत्त्वरुचौ प्रसीदता
त्वया ततोऽभूर्भगवाननन्तजित् ॥ १ ॥

‘जिसका शरीर अनन्त दोषोंका—राग-द्वेष-कामकोधादिक अगणित विकारोंका—आधारभूत है (और इसी लिये अनन्त-संसार-परिभ्रमणका कारण है) ऐसा मोहमयी ग्रह—पिशाच, जो चिरकालसे हृदयमें चिपटा हुआ था—आत्माके साथ सम्बद्ध होकर उसपर अपना आतङ्क जमाए हुए था—वह चूँकि तत्त्वश्रद्धामें प्रसन्नता धारण करनेवाले आपके द्वारा पराजित—निर्मूलित—किया गया है, इस लिये आप भगवान् ‘अनन्तजित्’ हुए हैं—आपकी ‘अनन्तजित्’ यह सज्जा सार्थक है।’

कषाय-नाम्नां द्विषतां प्रमाथिना-
पशेषयनाम भवानशेषवित् ।

विशेषणं मन्मथ-दुर्मदाऽऽमयं

सम्पादि-भैषज्य-गुणैर्धर्यलीनयतः ॥ २ ॥

‘(हे भगवन्) आप ‘कषाय’ नामके पीडनशील शत्रुओंका (हृदयमें) नाम निःशेष करते हुए—उनका आत्मासे पूर्णतः सरबन्ध विच्छेद करते हुए—अशेषवित्—सर्वज्ञ—हुए हैं। और आपने कामदेवके दुरभिमानरूप आतङ्कको, जो कि विशेषरूपसे शोषक—संतापक है, समाधिरूप—प्रशस्त ध्यानात्मक—औषधके गुणोंसे विलीन किया है—विनाशित किया है।’

परिश्रमाऽम्बुर्भय-वीचि-मालिनी

त्वया स्वतृष्णा-सरिदाऽऽर्य ! शोपिता ।

असङ्ग-घर्मार्क-गमस्ति-तेजसा

परं ततो निर्वृति-धाम तावकम् ॥ ३ ॥

‘जिसमें परिश्रमरूप जल भरा है और भयरूप तरंगमालाएँ उठती हैं उस अपनी तृष्णान-नदीको हे आर्य—अनन्तजित ! आपने अपरिग्रह-रूप श्रीष्मकालीन सूर्यकी किरणोंके तेजसे सुखा डाला है, इसलिये आपका निर्वृति-तेज उत्कृष्ट है।’

(इसपरसे स्पष्ट है कि तृष्णाको जीतनेका अमोघ उपाय अपरिग्रह-ब्रतका भलेप्रकार पालन है। परिग्रहके रहते तृष्णा उत्तरोत्तर बढ़ा करती है, जिससे उसका जीतना प्रायः नहीं बनता।)

सुहृत्ययि श्री-सुभगत्वमशनुते

द्विषंस्त्वयि प्रत्ययवत् प्रलीयते ।

‡ ‘विलीनयत्’ इति पाठान्तरम् ।

भवानुदासीनतमस्तयोरपि

प्रभो ! परं चिरमिदं तवेहितम् ॥ ४ ॥

‘हे भगवन् ! जो आपमें अनुराग—भक्ति-भाव—रखता है वह श्रीविशिष्ट सौभाग्यको—ज्ञानादि-लक्ष्मीके आधिपत्य आदिको—प्राप्त करता है, और जो आपमें द्वेषभाव रखता है वह प्रत्ययकी तरह—व्याकरण-शास्त्रमें प्रसिद्ध ‘किवपु’ प्रत्ययके समान अथवा क्षण-स्थायी इन्द्रियजन्य ज्ञानके समान—चिलीन (नष्ट) होजाता है—नरकादिक दुर्गतियोंमें जा पड़ता है। परन्तु आप अनुरागी (मित्र) और द्वेषी (शत्रु) दोनोंमें अत्यन्त उदासीन रहते हैं—न किसीका नाश चाहते हैं और न किसीकी श्रीबृद्धि; फिर भी मित्र और शत्रु स्वयं ही उक्त फलको प्राप्त ही जाते हैं—, यह आपका ईहित—चरित्र—बड़ा ही विचित्र है—अद्भुत माहात्म्यको प्रकट करता अथवा गुप्त रहस्यका सूचक है।’

त्वमीदृशस्तादृश इत्यर्थं मम
प्रलाप-लेशोऽल्प-मतेर्महामुने !
अशेष-माहात्म्यमनीरयन्नपि
शिवाय संस्पर्श इवाऽमृताम्बुधेः ॥५॥ (७०)

‘(हे भगवन् !) आप ऐसे हैं—वैसे हैं—आपके ये गुण हैं—वे गुण हैं—, इस प्रकार मुझ अल्पमतिका—यथावृत् गुणोंके परिज्ञानसे रहित स्तोताका—यह स्तुतिरूप थोड़ासा प्रलाप है। (तब क्या यह निष्कल होगा ? नहीं) अमृत-समुद्रके अशेष-माहात्म्यको न जानते और न कथन करते हुए भी जिस प्रकार उसका संस्पर्श कल्याण-कारक

होता है उसी प्रकार हे महामुने ! आपके अशेष-माहात्म्यको न जानते और न कथन करते हुए भी मेरा यह थोड़ासा प्रलाप आपके गुणोंके संस्पर्शरूप होनेसे कल्याणका ही हेतु है ।

१५

श्रीधर्म-जिन-स्तवन

— * : * : * : —

धर्म-नीर्थमनवं प्रवर्तयन्
 धर्म इत्यनुमतः सतां भवान्
 कर्म-कक्षमद्दहत्पोऽग्निभिः
 शर्म शाश्वतमवाप शङ्करः ॥ १ ॥

(हे धर्मजिन !) अनवद्य-धर्मतीर्थको—सम्यगदर्शनादिरूप धर्म-तीर्थको अथवा सम्यगदर्शनाचात्मक-धर्मके प्रतिपादक आगम-तीर्थको—(लोकमें) प्रवर्तित करते हुए आप सत्पुरुषों द्वारा ‘धर्म’ इस सार्थक संज्ञाको लिये हुए माने गये हैं । आपने (विविध) तपरूप अग्नियोंसे कर्म-वनको जलाया है, (फलतः) शाश्वत-अविनश्वर-सुख प्राप्त किया है । (और इसलिये) आप शंकर हैं—कर्मवनको दहन कर अपनेको और धर्मतीर्थको प्रवर्तित कर सकल प्राणियोंको सुखके करनेवाले हैं ।

देव-मानव-निकाय-सत्तमै
 रेजिष्ट्रे परिवृतो वृतो बुधैः ।

तारका-परिवृत्तेऽतिपुष्कलो
व्योमनीव शश-लाञ्छनोऽमलः ॥ २ ॥

‘जिस प्रकार निर्मल—घन-पटलादि-मलसे रहित—पूर्ण-चन्द्रमा आकाशमें ताराओंसे परिवेष्टित हुआ शोभता है उसी प्रकार (हे धर्मजिन !) आप देव और मनुष्योंके उत्तम समूहोंसे परिवेष्टित तथा गणधरादिबुधजनोंसे परिवारित (सेवित) हुए (समवसरण-सभामें) शोभाको प्राप्त हुए हैं ।’

प्रातिहार्य-विभवैः परिष्कृतो
देहत्रौऽपि विरतो भवानभूत् ।
मोक्षमार्गमशिष्वन्नरामगन्
नाऽपि शासन-फलैषणाऽतुरः ॥ ३ ॥

‘प्रातिहार्यों और विभवोंसे—छत्र, चमर, सिंहासन, भामंडल, अशोकवृक्ष, सुरपुष्पवृष्टि, देवदुन्दुर्मा और दिव्यव्यनिरूप आठ प्रकारके चमत्कारों तथा समवसरणादि-विभूतियोंसे—विभूषित होते हुए भी आप उन्हींसे नहीं किन्तु देहसे भी विरक्त रहे हैं—अपने शरीरसे भी आपको ममत्व एवं रागभाव नहीं रहा । (फिर भी तीर्थंकर-प्रकृतिरूप पुरुयकर्मके उदयसे) आपने मनुष्यों तथा देवोंको मोक्षमार्ग सिखलाया है—मुक्तिकी प्राप्तिके लिये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप अमोघउपाय बतलाया है । परन्तु आप शासन-फलकी एषणासे आतुर नहीं हुए—कभी आपने यह इच्छा नहीं की कि मेरे उपदेशका फल जनतांकी भक्ति अथवा उसकी कार्यासिद्धि आदिके रूपमें शीघ्र प्रकट होवे । और यह सब परिणाम आपकी बीतरागता, परिस्कृता और उच्चताकी

योतक है। जो शासन-फलके लिये आतुर रहते हैं वे ऐश्वर्यशाली होते हुए भी चुद्र संसारी जीव होते हैं। इसीसे वे प्रायः दम्भके शिकार होते हैं और उनसे सच्चा शासन बन नहीं सकता।

काय-वाक्य-मनसा प्रवृत्तयो
नाऽभवंस्तव मुनेत्रिकीर्षया ।
नाऽसमीक्ष्य भवतः प्रवृत्तयो
धीर ! तावकमचिन्त्यमीहितम् ॥५॥

‘आप प्रत्यक्षज्ञानी मुनिके मन-वचन-कायकी प्रवृत्तियाँ प्रवृत्त करनेकी इच्छासे नहीं हुईं; (तब क्या असमीक्ष्यकारित्वके रूपमें हुईं?) यथावत् वस्तुस्तरूपको न जानकर असमीक्ष्यकारित्वके रूपमें भी वे नहीं हुईं। इस तरह हे धीर-धर्मजिन ! अपका ईहित-चरित-चिन्त्य है—उसमें वे सब प्रवृत्तियाँ बिना आपकी इच्छा और असमीक्ष्यकारिताके तीर्थकर-नामकमौद्य तथा भव्यजीवोंके अदृष्ट(भाग्य)-विशेष-के वशसे होती हैं।’

मानुषीं प्रकृतिमध्यतीतवान्
देवतास्वपि च देवता यतः ।
तेन नाथ ! परमाऽसि देवता
श्रेयसे जिनवृष्ट ! प्रसीद नः ॥५॥ (७५)

‘हे नाथ ! चैकि आप मानुषी प्रकृतिको—मानव स्वभावको—अतिक्रान्त कर गये हैं और देवताओंमें भी देवता हैं—पूज्य हैं—इस लिये आप परम-उत्कृष्ट देवता हैं—पूज्यतम हैं। अतः हे धर्मजिन ! आप हमारे कल्याणके लिये प्रसन्न होवें, हम प्रसन्नता-

पूर्वक रसायन-सेवनकी तरह आपका आराधन करके संसार-रोग मिटाते हुए अपना पूर्ण स्वास्थ्य (मोक्ष) सिद्ध करनेमें समर्थ होवें ।

भावार्थ—‘श्रेयसे प्रसीद नः—आप हमारे कल्याणके लिये प्रसन्न होवें,’ यह अलंकृत भाषामें महकी प्रार्थना है, जिसका शब्दाशय यद्यपि इतना ही है कि आप हमपर प्रसन्न होवें और उस प्रसन्नताका फल हमें कल्याणके रूपमें प्राप्त होवें; परन्तु वीतराग जिनेन्द्रदेव किसीपर प्रसन्न या अप्रसन्न नहीं हुआ करते—वे तो सदा ही आत्मस्वरूपमें मग्न और प्रसन्न रहते हैं, फिर उनसे ऐसी प्रार्थनाका कोई प्रयोजन नहीं। वास्तवमें यह अलंकृत-भाषामय प्रार्थना एक प्रकारकी भावना है और इसका फलितार्थ यह है कि हम वीतरागदेव श्रीधर्मजिनका प्रसन्न-दृढ़दयसे आराधन करके उनके साथ तन्मयता प्राप्त करें और उस तन्मयताके फलस्वरूप अपना आत्म-कल्याण सिद्ध करनेमें उसी प्रकारसे समर्थ होवें जिस प्रकार कि रसायनके प्रसादसे—प्रसन्नतापूर्वक रसायनका सेवन करनेसे—रोगीजन आरोग्य-लाभ करनेमें समर्थ होते हैं ।’

१६

श्रीशान्ति-जिन-स्तवन

+****+

विधाय रक्षां परतः प्रजानां
राजा चिरं योऽप्रतिम-प्रतापः ।
व्यधात्पुरस्तात्स्वत एव शान्ति-
मुनिर्दया-मूर्तिरिवाऽधशान्तिम् ॥ १ ॥

होती है; क्योंकि वस्तु-स्थिति ऐसी ही है—इन्द्रिय-विषयोंको जितना अधिक सेवन किया जाता है उतनी ही अधिक उनके और सेवनकी तृष्णा बढ़ती रहती है। सेवन किये हुए इन्द्रिय-विषय (मात्र कुछ समयके लिये) शरीरके सन्तापको मिटानेमें निमित्तमात्र है—तृष्णास्त्र अग्नियोगात्माओंको शान्त करनेमें समर्थ नहीं होते। यह सब जानकर है आत्मवान्।—इन्द्रियविजेता भगवन्।—आप बिषय-सौख्यसे पराहृत मुख हुए हैं—आपने चक्रवर्तीत्वकी सम्पूर्ण विभूतिको हेय समझते हुए उनसे मुख मोड़कर अपना पूर्ण आत्मविकास सिद्ध करनेके लिये स्वयं ही वैराग्य लिया है—जिनदीका धारणा की है।

बाह्यं तपः परम-दुश्चरमाऽऽचरस्त्व-
माऽऽध्यात्मिकस्य तपसः परिवृहणार्थम् ।
ध्यानं निरस्य कलुष-द्रव्यमुच्चरस्मिन् ।
ध्यान-द्रव्ये ववृतिषेऽतिशयोपपन्ने ॥३॥

‘(वैराग्य लेकर) आपने आध्यात्मिक तपकी—आत्मध्यानकी—परिवृद्धिके लिये परमदुश्चर बाह्य तप—अनशादिरूप घोर-दुद्धर तप-श्रण—किया है। और (इस बाह्यतपश्रणको करते हुए) आप आर्त-रौद्र-रूप दो कलुषित (खोटे) ध्यानोंका निराकरण करके उत्तर-वर्ती—धर्म और शुक्र नामक—दो सातिशय (प्रशस्त) ध्यानोंमें प्रवृत्त हुए हैं।’

हुत्वा स्व-कर्म-कटुक-प्रकृतीश्वतसो
रत्नत्रयाऽतिशय-नेजसि जात-वीर्यः ।

† उत्तरेस्मिन् इति पाठान्तरम्।

ब्राजिषे सकल-वेद-विधेविनेता

व्यभ्रे यथा विद्युति दीप-रुचिविवस्वान् ॥४॥

‘(सातिशय ध्यान करते हुए है कुन्थुजिन !) आप अपने कर्मोंकी चार कटुक प्रकृतियोंको—ज्ञानवरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्त-रस्य नामके चार व्रातिया कर्मोंको—रक्तव्रयकी—सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्रिकी—सातिशय अप्तिमें—परमशुद्धध्यानरूप-वर्हामें—भरस्म करके जातवीर्य हुए हैं—शक्तिसम्पन्न बने हैं—और सकल-वेद-विधिके—सम्पूर्ण लोकाऽलोक—विषयक-ज्ञान-विधायक आगमके—प्रणेता होकर ऐसे शोभायमान हुए हैं जैसे कि घनपटल-विहीन आकाशमें दीप किरणोंको लिये हुए सूर्य शोभता है।’

यस्मान्मुक्तीद्र ! तव लोक-पितामहाद्या

विद्या-विभूति-काणिकामपि नाप्नुवन्ति ।

तस्माद्गवन्तमजमप्रतिमेयमाऽर्याः

स्तुत्यं स्तुवन्ति सुधियः स्व-हितैकतानाः ॥५॥(८८)

‘हे मुनीन्द्र श्रीकुन्थुजिन ! चूँकि लोकपितामहादिक—ब्रह्मा-विष्णु-महेश-कपिल-सुगतादिक—आपकी विद्या (केवलज्ञान) की और विभूतिकी—समवसरणादि लक्ष्मीकी—एक काणिकाको भी प्राप्त नहीं हैं, इस लिये आत्महित-साधनकी धुनमें लगे हुए श्रेष्ठ सुधी-जन—गणधरादिक—पुनर्जन्मसे रहित आप अद्वितीय स्तुत्य (स्तुति-पत्र) की स्तुति करते हैं।’

१८ श्रीअर-जिन-स्तवन

गुण-स्तोकं सदुल्लङ्घ्य तद्भृत्य-कथा स्तुतिः ।

आनन्त्याते गुणा वक्तुपशक्यास्त्वयि सा कथम् ॥१॥

‘विद्यमान गुणोंकी अल्पताको उल्लंघन करके जो उनके बहुत्यकी कथा की जाती है—उन्हें बढ़ा-चढ़ा कर कहा जाता है—उसे लोकमें ‘स्तुति’ कहते हैं । वह स्तुति (हे अर-जिन !) आपमें कैसे बन सकती है ?—नहीं बन सकती । क्योंकि आपके गुण अनन्त होनेसे पूरे तौरपर कहे ही नहीं जा सकते—बढ़ा-चढ़ा कर कहनेकी तो फिर बात ही दूर है ।’

तथाऽपि ते मुनीन्द्रस्य यतो नामाऽपि कीर्तिंतम् ।

पुनाति पुण्य-कीर्तनंस्ततो ब्रूयाम् किञ्चन ॥२॥

‘(यद्यपि आपके गुणोंका कथन करना अशक्य है) फिर भी आप पुण्यकीर्तिं* मुनीन्द्रका चूँकि नाम-कीर्तन भी—भक्तिपूर्वक नामका उच्चारण भी—हमें पवित्र करता है । इसलिये हम आपके गुणोंका कुछ-लेशमात्र कथन (यहाँ) करते हैं ।’

* ‘कीर्ति’ शब्द वाणी, ख्याति और स्तुति तीनों अर्थोंमें प्रयुक्त होता है और ‘पुण्य’ शब्द पवित्रता तथा प्रशस्तताका श्रोतक है । अतः जिनकी वाणी पवित्र-प्रशस्त है, ख्याति पवित्र-प्रशस्त है और स्तुति पुण्योत्पादक-पवित्रतासुग्यादक है उन्हें ‘पुण्य-कीर्ति’ कहते हैं ।

— लक्ष्मी-विभव-सर्वस्वं मुमुक्षोश्चक-लाञ्छनम् ।
साम्राज्यं सार्वभौमं ते जरत्तृणमिवाऽभवत् ॥३॥

‘लक्ष्मीकी विभूतिके सर्वस्वको लिये हुए जो चक्रलाङ्घन—चक्रवर्तित्वका—सार्वभौम । साम्राज्य आपको सम्प्राप्त था, वह मुमुक्षु होनेपर—मोक्ष प्राप्तिकी इच्छाको चरितार्थ करनेके लिये उद्यत होनेपर—आपके लिये जीर्ण तृणके समान हो गया—आपने उसे निःसार समझ कर त्याग दिया ।’

तव रूपस्य सौन्दर्यं दृष्टा तु सिमनापिवान् ।

द्रुचक्षः शकः सहस्राक्षो वभूत बहु-विस्मयः ॥४॥

‘आपके रूप-सौन्दर्यको देखकर दो नेत्रोंबाला इन्द्र तुमिको प्राप्त न हुआ—उसे आपको अधिकाधिकरूपसे देखनेकी लालसा बनी ही रही—(और इसलिये विकिया-द्वारा) वह सहस्र-नेत्र बन कर देखने लगा, और बहुत ही आश्चर्यको प्राप्त हुआ ।’

मोहरूपो रिपुः पापः कषाय-भट-साधनः ।

दृष्टि-संविदुपेक्षाऽस्त्रैस्त्वया धीर ! पराजितः ॥५॥

‘कषाय-भटोंकी—कोष-मान-माया-लोभादिकी—सैन्यसे युक्त जो मोहरूप—मोहनीय कर्मरूप—पापी शत्रु है—आत्माके गुणोंका प्रधानरूपसे धात करनेवाला है—उसे हे धीर अर-जिन ! आपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और उपेक्षा—परमौदासीन्य-लक्षण सम्यक्-चारित्र—रूप अख्य-शब्दोंसे पराजित कर दिया है ।’

* ‘संप’ समादनमें उपयुक्त प्रतियोका पाठ ।

कन्दर्पस्योदूरो दर्पस्त्रैलोक्य-विजयार्जितः ।

हे पयामासं तं धीरे त्वयि प्रतिहतोदयः ॥ ६ ॥

‘ तीन लोककी विजयसे उत्पन्न हुए कामदेवके उत्कट दर्पको-
महान् अर्हकारको—आपने लज्जित किया है । आप धीरवीर—
अद्भुतिचित्त—मुनीन्द्रके सामने कामदेव हतोदय (प्रभावहीन) हो
गया—उसकी एक भी कला न चली ।’

आयत्यां च तदात्वे च दुःख-योनिर्दुरुत्तरा ।

तृष्णा-नदी त्वयोत्तीर्णा विद्या-नावा विविक्षया ॥७॥

‘ आपने उस तृष्णा-नदीको निर्दीष ज्ञान-नौकासे पार किया
है जो इस लोक तथा परलोकमें दुःखोंकी योत्रि है—कष्ट-परम्पराको
उत्पन्न करनेवाली है—और जिसका पारं करना आसान नहीं है—
बड़े कष्टसे जिसे तिरा (पार किया) जाता है ।’

अन्तकः क्रन्दको नृणां जन्म-ज्वर-सखः सदा ।

त्वामन्तकाऽन्तकं प्राप्य व्यावृत्तः काम-कारतः ॥८॥

‘ पुनर्जन्म और ज्वरादिक रोगोंका मित्र अन्तक-यम सदा
मनुष्योंको रुलानेवाला है; परन्तु आप अन्तकका अन्त करनेवाले
हैं, आपको प्राप्त होकर अन्तक-काल अपनी इच्छानुसार प्रवृत्ति-
से उपरत हुआ है—उसे आपके प्रति अपना स्वेच्छु व्यवहार बन्द
करना पड़ा है ।’

भूषा-वेषाऽयुध-न्यागि विद्या-दम-दया-परम् ।

रूपमेव तवाऽचष्टे धीर ! दोष-विनिश्चहम् ॥९॥

‘ हे धीर अर-जिन ! आभूषणों, वेषों तथा आयुधोंका त्यागी

और ज्ञान, कषायेन्द्रिय-जय तथा दयाकी उत्कृष्टताको लिये हुए आपका रूप ही इस बातको बतलाता है कि आपने दोषोंका पूण्य-तथा निग्रह (विजय) किया है—क्योंकि राग तथा अहंकारका निग्रह किये विना कठक-केशरादि आभूषणों तथा जटा-मुकुट-रकाम्बरादिरूप द्वेषोंके त्यागनेमें प्रवृत्ति नहीं होती, द्वेष तथा भयका निग्रह किये विना शस्त्राखोंका त्याग नहीं बनता, अज्ञानका नाश किये विना ज्ञानमें उत्कृष्टता नहीं आती, मोहका क्षय किये विना कषायों और इन्द्रियोंका पूरा दमन नहीं बन आता और हिंसावृत्ति, द्वेष तथा लौकिक स्वार्थको छोड़े विना दयामें तत्परता नहीं आती ।

समन्ततोऽङ्गभासां ते परिवेषेण भूयसा ।

तमो वाह्यमपाकीर्णमध्यात्मं ध्यान-तेजसा ॥१०॥

‘ सब ओरसे निकलनेवालं आपके शरीर-तेजोंके बृहत् परिमं डलसे—विशाल प्रभामंडलसे—आपका वाह्य अन्धकार दूर हुआ और ध्यान-तेजसे आध्यात्मिक—ज्ञानावरणादिरूप भीतरी—अन्धकार नाशको प्राप्त हुआ है ।’

सर्वज्ञ-ज्योतिषोऽङ्गतस्तावको महिमोदयः ।

कं न कुर्यात्प्रणम्रं ते सच्चं नाथ ! सचेतनम् ॥११॥

‘ हे नाथ अरजिन ! सर्वज्ञकी उग्रोतिसे—ज्ञानोल्कपसे—उत्पन्न हुआ आपके माहात्म्यका उदय किस सचेतन प्राणीको—गुण-दोषके विवेकमें चतुर जीवात्माको—प्रणम्रशील नहीं बनाता ? सभीको आपके आगे नत-मस्तक करता है ।’

तत्र वाग्मृतं श्रीमत्सर्व-भाषा-स्वभावकम् ।

प्रीणायत्यमृतं यद्वत्प्राणिनो व्यापि संसदि ॥१२॥

‘ सर्व-भाषाओंमें परिणत होनेके स्वभावको लिये हुए और समवसरण-सभामें व्याप्त हुआ द्वापका श्रीसम्पन्न—सकलार्थके यथार्थ प्रतिपादनकी शक्तिसे युक्त—वचनामृत प्राणियोंको उसी प्रकार घूम-संतुष्ट करता है जिस प्रकार कि अमृत-पान।

अनेकान्तात्मदृष्टिस्ते सती शून्यो विप्र्ययः ।

ततः सर्वं मृषोक्तं स्यात्तदयुक्तं स्वघाततः ॥१३॥

‘ (हे अरजिन !) आपकी अनेकान्तदृष्टि (अनेकान्तात्मक-मत-प्रवृत्ति) सती—सच्ची है, विपरीत इसके जो एकान्त मत है वह शून्यरूप असत है* । अतः जो कथन अनेकान्त-दृष्टिसे रहित—एकान्त-दृष्टिको लिये हुए—है वह सब मिथ्या है; क्योंकि वह अपना ही—सत्-असत् आदिरूप एकान्तमतका ही—घमतक है—अनेकान्तके बिना एकान्तकी स्वरूप-प्रतिष्ठा बन ही नहीं सकती ।’

ये पर-स्वयलितोन्निद्राः स्व-दोषेभ-निमीलनाः ।

तपस्विनस्ते किं कुरु रपात्रं त्वन्मत-श्रियः ॥१४॥

‘ जो (एकान्तवादी जन) परमें—अनेकान्तमें—विरोधादि दोष देखनेके लिए उन्निद्र—जाग्यत—रहते हैं और अपनेमें—सत् आदि एकान्तमें—दोषोंके प्रति गज-निमीलनका व्यवहार करते हैं—उन्हें देखते हुए भी न देखनेका डौल बनाते हैं—वे बेचारे क्या करें ? —उनसे स्वपनका साधन और परपनका दूषण बन नहीं सकता । (क्योंकि) वेद्यापकं अनेकान्त-मतकी (यथार्थ वस्तुरूप—विवेचकत्व—लक्षणा)

* यह सब कैसे है, इस विषयकी विशेषरूपसे जाननेके लिये इसी स्वयम्भू-स्तोत्र-गत सुमनि-जिन और सुविधि-जिनके स्तवनोंको अनुवाद-साहित देखना चाहिए ।

श्रीके पात्र नहीं हैं—सर्वथा एकान्तपञ्चको अपनानेसे वे उसके योग्य ही नहीं रहे।'

ते तं स्वघातिनं दोषं शमीकर्तुमनीश्वराः ।

त्वद्द्विषः स्वहनो बालास्तत्त्वाऽवक्तव्यतां श्रिताः ॥१५॥

'वे एकान्तवादी जैन, जो उस (पूर्वोक्त) स्वघाति-दोषको दूर करनेके लिये असमर्थ हैं, आपसे—आपके अनेकान्तवादसे—द्वेष रखते हैं, आत्मघाती हैं—अपने सिद्धान्तका धात स्वयं अपने हाथों करते हैं—और यथावद्वस्तुस्वरूपसे अनभिज्ञ-बालक हैं,(इसीसे)उन्होंने तत्त्व की अवकल्यताको आश्रित किया है—वस्तुतत्त्व अवकल्य है, ऐसा प्रतिपादन किया है।'

सदेक-नित्य-वक्त्रन्यास्तद्विपक्षाशच ये नयाः ।

सर्वथेति प्रदुष्यन्ति पुष्यन्ति स्यादितीह ते ॥१६॥

'सत्, एक, नित्य, वक्त्रन्य और इनके विपक्षरूप असत्, अनेक, अनित्य, अवकल्य ये जो नय-पञ्च हैं वे यहाँ सर्वथा-रूपमें तो अति दूषित हैं और स्यात्-रूपमें पुष्टिको प्राप्त होते हैं।—अर्थात् सर्वथा सत्, सर्वथा असत्, सर्वथा एक (अद्वैत), सर्वथा अनेक सर्वथा नित्य, सर्वथा अनित्य, सर्वथा वक्त्रन्य और सर्वथा अवकल्य रूपमें जो मत-पञ्च हैं, वे सब दूषित (मिथ्या) नय हैं—स्वेष्टमें वाधक हैं। और स्यात् सत्, स्यात् असत्, स्यात् एक, स्यात् अनेक, स्यात् नित्य, स्यात् अनित्य, स्यात् वक्त्रन्य और स्यात् अवकल्यरूपमें जो नय-पञ्च हैं, वे मत्र पुष्ट (मध्यक्) नय हैं—स्वकीय अर्थका निर्वाचनरूपसे प्रतिपादन करनेमें समर्थ हैं।'

‘प्रदुष्यन्ते पुष्यन्ते’ इति पाठान्तरम्।

सर्वथा-नियम-त्यागी यथादृष्टमपेक्षकः ।

स्याच्छब्दस्तान्नके न्याये नान्येषामात्मविद्विषाम् ॥१७॥

‘ सर्वथारूपसे—सत् ही है, असत् ही है, नित्य ही है, अनित्य ही है इत्यादि रूपसे—प्रतिपादनके नियमका त्यागी, और यथादृष्टको—जिस प्रकार सत्-असत् आदि रूपसे वस्तु-प्रमाण-प्रतिपत्ति है उसको—अपेक्षामें रखनेवाला जो ‘स्यात्’ शब्द है वह आपके—अनेकान्तवादी जिनदेवके—न्यायमें है, (त्वन्मत-बाह्य) दूसरोंके—एकान्तवादियोंके—न्यायमें नहीं है, जो कि अपने वैरी आप है* ।’

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाण-नय-साधनः ।

अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽपितांन्यात् ॥१८॥

‘ आपके मतमें अनेकान्त भी—सम्यक् एकान्त ही नहीं किन्तु अनेकान्त भी—प्रमाण और नयसाधनों (दृष्टियों) को लिये हुए अनेकान्तस्वरूप—कथञ्चित् अनेकान्त और कथञ्चित् एकान्तस्वरूप—हैं । प्रमाणकी दृष्टिसे अनेकान्तरूप सिद्ध होता है (‘सकलादेशः प्रमाणाधीनः’ इस वाक्यके आशयानुसार) और विवक्षित नयकी अपेक्षासे अनेकान्तमें एकान्तरूप—प्रतिनियतधर्मरूप—सिद्ध होता है (‘विकलादेशः नयाधीनः’ इस वाक्यके आशयानुसार) ।’

* एकान्तवादी परके वैरी होनेके साथ साथ अपने वैरी आप कहते हैं, इस बातको सविशेषरूपसे जाननेके लिये ‘समन्त-भद्र-विचार-माला’ का प्रथम त्वेत्र ‘स्व-पर-वैरी कौन ?’ देखना चाहिये, जो कि ‘अनेकान्त’ के चतुर्थ वर्ष की प्रथम किरण (नववर्षाङ्क) में प्रकाशित हुआ है ।

इति निरुपम-युक्त-शासनः*
 प्रिय-हित-योग-गुणाऽनुशासनः।
 अर-जिन ! दम-तीर्थ-नायक-
 स्त्वमिव स्तां प्रतिबोधनाय कः ? ॥१६॥

‘इस प्रकार हे अरजिन ! आप निरुपम-युक्त-शासन हैं—उपमा-रहित और प्रमाण-प्रसिद्ध शासन-मतके प्रवर्तक हैं—, प्रिय तथा हितकारी योगोंके—मन-चन्चन-कायकी प्रवृत्तियों अथवा समाधिके—और गुणोंके—सम्यगदर्शनादिके—अनुशासक हैं, साथ ही दम-तीर्थके नायक हैं—कायथ तथा इन्द्रियोंकी जयके विधायक प्रवचन-तीर्थके स्वामी हैं । आपके समान फिर साधुजनोंको प्रतिबोध देनेके लिये और कौन समर्थ है ?—कोई भी समर्थ नहीं है । आप ही समर्थ हैं ।’

मति-गुण-विभवानुरूपत-
 स्त्वयि-वरदाऽगम-द्वाष्टरूपतः ।
 गुण-कृशमपि किञ्चनोदित्
 मम भवताद् दुरितामनोदितम् ॥२०॥ (१०४)

‘हे वरद—अरजिन ! मैंने अपनी मत-शक्तिकी सम्पत्तिके अनुरूप—जैसी मुझे बुद्धि-शक्ति प्राप्त हुई है उसके अनुसार—तथा आगमकी द्वष्टिके अनुभार—आगममें कथित गुणोंके आधारपर—आपके विषयमें कुछ थोड़े से गुणोंका कीर्तन किया है, यह गुण-कीर्तन मेरे पाप-कर्मोंके विनाशमें समर्थ होवे—इसके प्रसादसे मंगी माहनीयादि पाप-कर्मप्रकृतियोंका क्षय होवे ।’

* ‘युक्त-शासनः’ इति पाठान्तरम् ।

१६

श्रीमल्लि-जिन-स्तवन

यस्य महर्षेः सकल-पदार्थ-
प्रत्यवबोधः समजनि साक्षात् ।
साऽमर-मर्त्यं जगदपि सर्वं
प्राञ्छलि भूत्वा प्रणिपतति स्म ॥१॥

‘जिन महर्षिके सकल-पदार्थोंका प्रत्यवबोध—जीवादि-
सम्पूर्ण पदार्थोंको सब ओरसे अशेष-विशेषको लिये हुए जाननेवाला परि-
ज्ञान (केवलज्ञान) —साक्षात् (इन्द्रिय-श्रुतादि-निरपेक्ष प्रत्यक्ष) रूपसे
उत्पन्न हुआ, (और इसलिये) जिन्हें देवों तथा मर्त्यजनोंके साथ
सारे ही जगतने हाथ जोड़कर नमस्कार किया; (उन मल्लिजिनकी
मैने शरण ली है ।) ’

यस्य च मूर्तिः कनकमयीव
स्तु-स्फुरदभा-कृत-परिवेषा ।
वागपि तच्चं कथयितुकामा
स्यात्पद-पूर्वा रमयति साधून् ॥२॥

‘जिनकी मूर्ति—शरीराङ्कति—सुवर्णनिर्मित—जैसी है और
स्फुरायमान आभासे परिमण्डल किये हुए है—सम्पूर्ण शरीरको
व्यास करनेवाला भास्मण्डल बनाये हुए है—, वारणी भी जिनकी ‘स्यात्’

पदपूर्वक यथावत् वस्तुतत्त्वका कथन करनेवाली है और साधु-
जनोंको रमाती है—आकर्षित करके अपनेमें अनुरक्त करती है; (उन
मलिल-जिनकी मैने शरण ली है ।) ’

यस्य पुरस्ताद्विग्लित-माना
न प्रतितीर्थ्या भुवि विवदने ।
भूरपि गम्या प्रतिपदमासी-
ज्ञात-विकोशाम्बुज-सृदु-हास्या ॥ ३ ॥

‘ जिनके सामने गलितमान दुए प्रतितीर्थिजन—एकान्तवाद-
मतानुयायी—पृथ्वीपर विवाद नहीं करते थे और पृथ्वी भी (जिनके
विहारके समय) पद-पद्मपर विकसित कमलोंसे सृदु-हास्यको लिये
हुए रमणीक हुई था; (उन मलिल-जिनकी मैने शरण ली है ।) ’

यस्य ममन्ताजिजन-शिशिरांशोः
शिष्यक-साधु-ग्रह-विभवोऽभूत ।
तीर्थमपि स्वं जनन-समुद्र-
त्रासित-मत्वोत्तरण-पथोऽग्रम् ॥ ४ ॥

‘ (अपनी शीतल-वचन किरणोंके प्रभावसे संसार-तापको शान्त करने-
वाले) जिन जिनेन्द्र-चन्द्रका विभव (ऐश्वर्य) शिष्य-साधु-प्रहोंके
रूपमें हुआ था—प्रचुर परिमाणमें शिष्य-साधुओंके समूहसे जो व्याप-
थे—, जिनका आत्मोय तीर्थ—शासन—भी संसार-समुद्रसे भय-
भीत प्राणियोंको पार उतरनेके लिये प्रधान मार्ग बना है; (उन
मलिल-जिनेन्द्रकी मैने शरण ली है ।) ’

यस्य च शुक्लं परमतपोऽग्नि-
ध्यानमनन्तं दुरितमधारीत् ।
तं जिन-सिंहं कृतकरणीयं
मल्लिमशल्यं शरणमितोऽस्मि ॥५॥ (११०)

‘ और जिनकी शुक्लध्यानरूप परम तपोऽग्निने अनन्त दुरितं-
को—अन्तको प्राप्त न होनेवाले (परम्परा से चले आनेवाले) कर्मष्टकको—
भस्म किया था,

उन (उक्त गुणविशिष्ट) कृतकृत्य और अशल्य—माया-मिथ्या-
निदान-शल्यवर्जित—मल्लिजिनेन्द्रकी मैं शरण मैं प्राप्त हुआ हूँ—
इस शरण-प्राप्तिन्द्रारा उस अनन्त दुरितरूप कर्मशब्दसे मेरी रक्षा होवे ।’

२०

श्रीमुनिसुव्रत-जिन-स्तवन

→*→*→*

अधिगत-मुनि-सुव्रत-स्थिति-
मुनि-वृषभो मुनिसुव्रतोऽनघः ।
मुनि-परिषदि निर्बभौ भवा-
नुदु-परिषत्परिवीत-सोमवत् ॥१॥

‘ मुनियोंके सुव्रतोंकी—मूलोचर-गुणोंकी—स्थितिको अधिगत
करनेवाले—उसे भले प्रकार जाननेवाले ही नहीं किन्तु स्वतः के आच-

रण-द्वारा अधिकृत करनेवाले—(और इमलिए) ‘मुनि-सुव्रत’ इस
चक्षुर्थं संज्ञाके धारक हे निष्पुप (भ्रातिकर्म-चतुष्प्रयरूप पापसे रहित)
मुनिराज ! आप मुनियोंकी परिपदमें—गणधरादि ज्ञानियोंकी सभा
(समवसरण) में—उसी प्रकार शोभाको प्राप्त हुए हैं जिस प्रकार
कि नक्षत्रोंके समूहसे परिवेषित चन्द्रमा शोभाको प्राप्त होता है ।

परिणत-शिखि-करणठ-रागया
कृत-मद-निग्रह-विग्रहाऽभया ।
तव जिन ! तपसः प्रसूतया
ग्रह-परिवेष-रुचेव शोभितम् ॥२॥

‘ मद-मदन अथवा अहंकारके निप्रहकारक—निरोधमृचक—
शरीरके धारक हे मुनिसुव्रत जिन ! आपका शरीर तपसे उत्पन्न
हुई तरुण-मोरके करणठवर्ण-जैसी आभासे उसी प्रकार शोभित
हुआ है जिस प्रकार कि ग्रहपरिवेषकी—चन्द्रमाके परिमण्डलका—
दीपि शोभती है । ’

शशि-रुचि-शुचि-शुक्ल-लोहितं
सुरभितरं विरजो निजं वपुः ।
तव शिवमतिविस्मयं यते !
यदपि च वाङ्मनसीयमीहितम् ॥३॥

‘ हे यतिराज ! आपका अपना शरीर चन्द्रमाकी दीपिके
समान सिर्मल-शुक्ल रुधिस्से युक्त, अतिसुगन्धित, रजरहित,
शिष्यस्त्रेष्य (स्व-पर-कल्याणमय), तथा अति आश्चर्यको लिए हुए

रहा है और आपके वचन तथा मनकी जो प्रवृत्ति हुई है वह भी
शिव-स्वरूप तथा अति आश्र्यको लिए हुए हुई है।'

स्थिति-जनन-निरोध-लक्षणं
चरमचरं च जगत् प्रतिक्षणम् ।
इति जिन ! सकलज्ञ-लाङ्छनं
वचनमिदं वदतांवरस्य ते ॥४॥

'हे मुनिसुब्रत जिन ! आप वदतांवर हैं—प्रवक्ताओंमें श्रेष्ठ हैं—
आपका यह वचन कि 'चर और अचर (जंगम-स्थावर) जगत्
प्रतिक्षण स्थिति-जनन-निरोधलक्षणको लिए हुए हैं'—प्रत्येक समय-
में ध्रौद्य, उत्पाद और व्यय (विनाश) स्वरूप हैं—सर्वज्ञताका चिन्ह
है—संसारभरके जड़-चेतन, सूक्ष्म-सूख और मूर्त-अमूर्त सभी पदार्थोंमें
प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौद्यको एक साथ लक्षित करना सर्वज्ञताके
विना नहीं बन सकता, और इसलिए आपके इस परम अनुभूत वचनसे
स्पष्ट सूचित होता है कि आप सर्वज्ञ हैं।'

दुरित-पल-कलङ्कमष्टकं
निरूपम्-योग-बत्तेन निर्दहन् ।
अभवदभव-सौख्यवान् भवान्
भवतु ममापि भवोपशान्तये ॥ ५ ॥ (११५)

'(हे मुनिसुब्रत जिन !) आप अनुपम योगबलसे—परमशुक्र-
ध्यानाग्निके तेजसे—आठों पाप-मत्तरूप कलंकोंको—जीवात्माके वास्त-
विक स्वरूपको आच्छादन करनेवाले ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय,
अन्तराय, वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु नामके आठों कर्ममलोंको—

सर्वदा अभिपूज्य नमि-जिन ! ऐसा कौन विद्वान्—प्रेक्षापूर्वकारी
अथवा विवेकी जन—है जो आपकी स्तुति न करे ? करे ही करे ?

त्वया धीर्मन् ! ब्रह्म-प्रणिधि-मनसा जन्म-निगलं

समूलं निभिन्न त्वमसि विदुषां मोक्ष-पदवी ।

त्वयि ज्ञान-ज्योतिर्भव-किरणैर्भाति भगव-

बभूवन खद्योता इव शुचिरवावन्यमतयः ॥२॥

‘ हे बुद्धि-ऋद्धिसम्पन्न भगवन् ! आपने परमात्म(शुद्धात्म)-
स्वरूपमें चित्तको एकाग्र करके पुनर्जन्मके बन्धनको उसके मूल-
कारण-सहित नष्ट किया है, अतएव आप विद्वज्जनोंके लिए मोक्ष-
मार्ग अथवा मोक्षस्थान हैं—आपको प्राप्त होकर विवेकी जन अपना
मोक्ष-साधन करनेमें समर्थ होते हैं। आपमें विभव (समर्थ) किरणोंके
साथ केवलज्ञानज्योतिके प्रकाशित होनेपर अन्यमती—एकान्त-
वादी—जन उसी प्रकार हृतप्रभ हुए हैं जिस प्रकार कि निर्मल
सूर्यके सामने खद्योत (जुग्न) होते हैं ।’

विधेयं वार्यं चाऽनुभयमुभयं मिश्रमपि तद्-

विशेषैः प्रत्येकं नियम-विषयैश्चापरिमितैः ।

सदाऽन्योन्यापेक्षैः सकल-भुवन-ज्येष्ठ-गुरुणा

त्वया गीतं तत्त्वं बहु-नय-विवक्षेतर-वशात् ॥३॥

‘ हे सम्पूर्ण जगत्के महान् गुरु श्रीनमिजिन ! आपने वस्तु-
तत्त्वको बहुत नयोंकी विवक्षा-अविक्षाके वशसे विधेय, वार्य (प्रतिषेध)
उभय, अनुभय तथा मिश्रभंग—विधेयाऽनुभय, प्रतिषेधा-
अनुभय और उभयाऽनुभय—ऐसे सतभंग) रूप निर्दिष्ट किया हैं। साथ

ही अपरिमित विशेषों (धर्मों) का कथन किया है, जिनमें से एक-एक विशेष सदा एक दूसरेकी अपेक्षाको लिये रहता है, और सप्तभंगके नियमको अपना विषय किये रहता है—कोई भी विशेष अथवा धर्म सर्वथा एक दूसरेकी अपेक्षासे राहित कभी नहीं होता और न सप्तभंग-के नियमसे वहिर्भूत ही होता है।

अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं
न सा तत्राऽरम्भोऽस्त्यगुरुपि च यत्राऽश्रमविधौ ।
ततस्तत्सिद्धयर्थं परम-करुणो ग्रन्थमुभयं
भवानेवाऽत्याक्षीन्न च विकृत-वेषोपधि-रतः ॥४॥

‘प्राणियोंकी अहिंसा जगन्में परमब्रह्म—अत्युच्चकोटिकी आत्म-कर्त्त्वा—जानी गई है—और वह अहिंसा उस आश्रमविधिमें नहीं बनती जिसआश्रमविधिमें अगुमात्र—थोड़ा सा—भी आरम्भ होता है। अतः उस अहिंसा-परमब्रह्मकी सिद्धिके लिये परम-करुणाभावसे सम्पन्न आपने ही बाह्याभ्यन्तररूपसे उभय-प्रकारके परिग्रहको छोड़ा है—बाह्यमें वल्लालंकारादिक उपविश्योंका और अन्तर्गमें रागादिक भावोंका त्याग किया है—और फलतः परमब्रह्मकी सिद्धिको प्राप्त किया है। किन्तु जो विकृतवेष और उपधिमें रत है—यथाजातलङ्घके विरोधी जटा-मुकट-धारण तथा भस्मोद्धूलनादिरूप वेष और वस्त्र, आभूषण, अक्षमाला तथा मृगचर्मादिरूप उपविश्योंमें आसक्त हैं—उन्होंने उस बाह्याभ्यन्तर परिग्रहको नहीं छोड़ा है।—और इस लिए ऐसांसे उस परमब्रह्मकी सिद्धि भी नहीं बन सकती हैं।’

वपुभूषा-वेष-व्यवधि-रहितं शान्त-करणं
यतस्ते संचष्टे स्मर-शर-विषाऽतङ्क-विजयम् ।

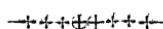
विना भीमैः शस्त्रैरदय-हृदयाऽपर्य-विलयं

ततस्त्वं निर्मोहः शरणमसि नः शान्ति-निलयः ॥५॥(१२०)

(‘हे नमि-जिन !) आभूषण, वेष तथा व्यवधान (वस्त्र-प्रावरणादि) से रहित और इन्द्रियोंकी शान्तताको—अपने अपने विषयोंमें बांछा-की निवृत्तिको—लिये हुए आपका नम दिगम्बर शरीर चूँकि यह बतलाता है कि आपने कामदेवके वाणोंके विषसे हीनेवाली चित्तकी पीड़ा अथवा अप्रतीकार व्याधिको जीता है और विना भयंकर शास्त्रोंके ही निर्दयहृदय क्रोधका विनाश किया है, इस लिये आप निर्मोह हैं और शान्ति-सुखके स्थान हैं। अतः हमारे शरण्य हैं—हम भी निर्मोह होना और शान्ति-सुखको प्राप्त करना चाहते हैं, इसीसे हमने आपकी शरण ली है ।

२२

श्रीअरिष्टनेमि-जिन-स्तवन



भगवानृषिः परम-योग-

दहन-हुत-कल्पणन्धनः ।

ज्ञान-विषुल-किरणैः मकर्ल

प्रतिबुध्य बुद्ध-कमलायतेक्षणः ॥१॥

हरिवंश-केतुगनवद्य-

विनय-दम-तीर्थ-नायकः ।

शील-जलधिरभवो विभव-
स्त्वमरिष्टनेमि-जिनकुञ्जरोऽजरः ॥२॥

‘विकसित-कमलदलके समान दीर्घ नेत्रोंके धारक और हस्ति-
बंशमें ध्वजरूप है अरिष्टनेमि-जिनेन्द्र ! आप भगवान्—सातिश-
वज्ञानवान्—, ऋषि—ऋद्धिसम्पन्न—, और शीलसमुद्र—अठारह हजार
शीलोंके धारक—हुए हैं; आपने परमयोगरूप शुक्लध्यानगिनसे
कल्मषेन्वनको—ज्ञानावरणादिरूप कर्मकाष्ठको—भस्म किया है और
ज्ञानकी विपुल (निरवशेष-दोतनसमर्थ विस्तीर्ण) किरणोंसे सम्पूर्ण
जगत अथवा लोकालोकको जानकर आप निर्देष (मायादिरहित)
विनय तथा दमरूप तीर्थके नायक हुए हैं—आपने सम्प्रदर्शन-ज्ञान-
चारित्र-तप और उपचाररूप पञ्च प्रकारके विनय तथा पञ्चेन्द्रिय-जयरूप
पञ्चप्रकार दमनके प्रतिपादक प्रवचन-तीर्थका प्रवर्तन किया है । (माथ ही)
आप जरासे रहित और भवसे विमुक्त हुए हैं ।’

त्रिदशेन्द्र-मौलि-मणि-रत्न-
किरण-विसरोपञ्चुम्बितम् ।
पाद-युगलमपलं भवतो
विकसत्कुशेशय-दलाऽरुणोदरम् ॥३॥
नख-चन्द्र-रश्मि-कवचाऽर्ति-
रुचिर-शिखराऽङ्गुलि-स्थलम् ।
स्वार्थ-नियत-मनसः सुधियः
प्रणमन्ति मन्त्र-मुखरा महर्षयः ॥४॥

‘आपके उस निर्मल चरण-युगलको, जो (नत-मत्स्यक हुए)
देवेन्द्रोंके मुकटोंकी मणियों और वृजादिरत्नोंकी किरणोंके प्रसर-
से उपनुभ्वित हैं, जिसका उदर—पादतल—विकसित कमलदलके
समान रक्तवर्ण है और जिसकी अङ्गुलियोंका उन्नत प्रदेश नख-
रूप-चन्द्रमाओंकी किरणोंके परिमण्डलसे अति सुन्दर मालूम होता
है, वे सुधी महर्षिजन प्रणाम करते हैं जो अपना आत्महित-
साधनमें दत्तचित्त हैं और जिनके मुखपर सदा स्तुति-मन्त्र
रहते हैं।’

युतिमद्रथाङ्ग-रवि-विम्ब-
किरण-जटिलांशुमण्डलः ।
नील-जलद-जल-राशि-वपुः
मह बन्धुभिर्गरुडकेतुरीश्वरः ॥५॥
हलभृच्च ते स्वजनभक्ति-
मुदित-हृदयौ जनेश्वरौ ।
धर्म-विनय-रसिकौ सुतरा
चरणाऽरविन्द-युगलं प्रणेमतुः ॥६॥

‘जिनके शरीरका ढीमिमण्डल युतिको लिए हुए सुदर्शनचक्र-
रूप रविमण्डलकी किरणोंसे जटिल है—मंवलित है—और जिनका
शरीर नीले कमल-दलोंकी राशिके समान श्यामवर्ण है उन गरुड-
धवज—नारायण—और हलधर—बलभद्र—दोनों लोकनायकोंने,
जो स्वजनभक्तिसे प्रमुदितचित्त थे और धर्मरूप विनयाचारके
रसिक थे, आपके दोनों चरणकमलोंको बन्धु-जनोंके साथ वार
वार प्रणाम किया है।’

ककुदं भुवः स्वचरयोषि-
 दुषित-शिखरैरतड्कृतः ।
 मेघ-पठल-परिवीत-तट-
 स्तव लक्षणानि लिखितानि वज्रिणा ॥७॥
 वहतीति तीर्थमृषिभिश्च
 सततमभिगम्यतेऽद्य च ।
 प्रीति-वितत-हृदयैः परितो
 भूशमूर्जयन्त इति विश्रुतोऽचलः ॥८॥

'जो पृथ्वीका ककुद है—चैलके कन्धेके समीप स्थित ककुद-
 नामक मर्वोपरिभाग जिस प्रकार शांभासम्पन्न होता है उसी प्रकार जो
 पृथ्वीके सब अवयवोंके ऊपर स्थित शांभा सम्पन्न उच्चस्थानकी गरिमाको
 प्राप्त है—विद्याधरोंकी छियोंसे संवित शिखरोंसे अलंकृत है और
 मेघपटलोंसे व्याप्त टटोंको लिये हुए है वह विश्रुत—लोकप्रसिद्ध—
 ऊर्जयन्त (गिरनार) नामका पर्वत (हे नामजन) इन्द्रद्वारा लिखे
 गये—उत्कीण हुए—आपके चिन्होंका धारण करता है, इसलिए
 तीर्थस्थान है और आज भी भक्तिसे उल्लिखितचित्त ऋषियोंद्वारा
 सब ओरसे निरन्तर अतिसंवित है—भक्तिभरे ऋग्मिणग अपनी
 आत्मासद्दिके लिये बड़े चावसे आपके उम्म पुण्यस्थानका आश्रय लेने
 रहते हैं ।'

वहिरन्तरप्युभयथा च
 करणमविधाति नाऽथेकृत् ।

नाथ ! युगपदखिलं च सदा
 त्वमिदं तलाऽऽमलकवद्विवेदिथ ॥६॥
 अते एव ते बुध-नुतस्य
 चरित-गुणमद्भुतोदयम् ।
 न्याय-विहितमवधार्य जिने
 त्वयि सुप्रसन्न-मनसः स्थिता वयम् ॥१०॥ (१३०)

‘हे नाथ ! आपने इस अखिल विश्वको—चराचर जगतको—
 सदा कर-तल-स्थित स्फटिक मणिके समान युगपत् जाना है, और
 आपके इस जाननेमें बाह्य करण—चद्गुरादिक—और अन्तःकरण—
 मन—ये अलग अलग तथा दोनों मिलकर भी न तो कोई बाधा
 उत्पन्न करते हैं और न किसी प्रकारका उपकार ही सम्पन्न करते
 हैं । इसीसे हे बुध जन-स्तुत—अरिष्टनेमि जिन ! आपके न्याय-विहित
 और अद्भुत उदय-सहित—समवसरणादि-विभूतिके प्रादुर्भावको लिये
 हुए—चरित-माहात्म्यको भले प्रकार अवधारण करके हम बड़े
 प्रसन्न-चित्तसे आपमें स्थित हुए हैं—आपके भक्त बने हैं और हमने
 आपका आश्रय लिया है ।’ —————

२३

श्रीपाश्व-जिन-स्तवन

— * : : * —

तपाल-नीलैः सधनुस्तडिदूगुणैः
 प्रकीर्ण-भीमाऽशनि-वायु-वृष्टिभिः ।

बलाहकैरैरि-वशैरुपदुतो

महापना यो नु चचाल योगतः ॥१॥

‘तमालबृक्षके समान नील-श्यामवर्णके भारक, इन्द्रधनुषों
तथा विद्युदगुणोंसे युक्त और भयझोर वज्र, वायु तथा वर्षाको सूब
ओर वखेरनेवाले ऐसे वैरि-वशवर्ती—कमठ शत्रुके इशारेपर नाचने
वाले—मेघोंसे उपद्रव होनेपर—पीडित किये जानेपर—भी जो महा-
मना योग्यसे—शुक्लध्यानसे—चत्तायमान नहीं हुए।’

ब्रह्मतकणा-मण्डल-मण्डपेन

यं स्फुरत्तडिपिङ्ग-रुचोपमर्गिणम् ।

जुगूह नागो धरणी धराधरं

विराग-मंध्या-तडिदम्बुदो यथा ॥२॥

‘जिन्हें उपसर्गप्राप्त होनेपर धरणेन्द्र नामके नामने चमकती
हुई बिजलीकी पीत दीपिको लिये हुए ब्रह्मतकणाओंके मण्डलरूप
मण्डपसे उसी प्रकार वेष्ठित किया जिस प्रकार कृष्णासंध्यामें विद्यु-
तोपलक्षित मेघ अथवा विविधवर्णोंकी संध्यारूप विद्युतसे उप-
लक्षित मेघ पर्वतको वेष्ठित करता है।’

स्व-योग-निष्ठिश-निशात-धारया

निशात्य यो दुर्जय-मोह-विद्विषम् ।

अवापदाऽहन्त्यमन्तित्यपदुतं

त्रिलोक-पूजाऽतिशयाऽस्पदं पदम् ॥३॥

‘जिन्होंने अपने योग—शुक्लध्यान—रूप ग्रन्थको तीक्ष्णधारा-
से दुर्जय मोह-शत्रुका धात करके उस आहंत्यपदको ग्राम किया
है जो कि अचिन्त्य है, अद्भुत है और त्रिलोककी पूजाके अतिशय
(परमप्रकृष्ट)का स्थान है।’

यमीश्वरं वीक्ष्य विधूत-कल्मणं
तपोधनास्तेऽपि तथा बुभूषवः ।
वनौकसः स्व-श्रम-वन्ध्य-वुद्रयः
शमोपदेशं शरणं प्रपेदिरे ॥४॥

‘जिन्हें विधूतकल्मण—धातिकर्मचतुष्यरूप पापसे रहित—, शमो-
पदेशक—मोक्षमार्गके उपदेश—और ईश्वरके—सकल-लोक-प्रभुके—
रूपमें देखकर वे (अन्यमतानुयायी) वनवासी तपस्वी भी शरणमें
प्राप्त हुए—मोक्षमार्गमें लगे—जो अपने श्रमको—पंचाग्निसाधनादि-
रूप प्रयासको—विफल समझ गये थे और वैसे ही (भगवान् पाश्व-
जैसे विधूतकल्मण ईश्वर) होनेकी इच्छा रखते थे ।’

स सत्य-विद्या-तपसां प्रणायकः
समग्रधीरुग्रकुलाऽम्बरांशुमान् ।
मया सदा पाश्वजिनः प्रणम्यते
विलीन-मिथ्यापथ-दृष्टि-विभ्रमः ॥५॥ (१३५)

‘वे (उक्त गुणविशिष्ट) श्रीपाश्वजिन मेरे द्वारा प्रणाम किये
जाते हैं, जो कि सच्ची विद्याओं तथा तपस्याओंके प्रणेता हैं,
पूर्णबुद्धि—सर्वज्ञ—हैं, उग्रवंशरूप आकाशके चंद्रमा हैं और
जिन्होंने मिथ्यादर्शनादिरूप कुमार्गकी दृष्टियोंसे उत्पन्न होनेवाले
विभ्रमोंको—सर्वथा नित्य-क्षणिकादिरूप बुद्धि-विकारोंको—विनष्ट किया
है—अथवा यों कहिए कि भव्यजन जिनके प्रसादसे सम्पर्दशनादिरूप
सन्मार्गके उपदेशको पाकर अनेकान्त-दृष्टि बने हैं और सर्वथा एकान्त-
वादि-मतोंके विभ्रमसे मुक्त हुए हैं ।’

२४

श्रीवीर-जिन-स्तवन •

कीत्या शुवि भासि तया
 वीर ! त्वं गुण-समुत्थया भासितया ।
 भासोऽगुसभाऽसितया
 मोम इव व्योम्नि कुन्द-शोभाऽसितया ॥१॥

‘हे वीर जिन ! आप उस निर्मलकीर्तिसे—ख्याति अथवा दिव्यवाणीसे—जो (आत्म-शरीर-गत) गुणोंसे समुद्रूत है, पृथ्वी-पर उसी प्रकार शोभाको प्राप्त हुए हैं जिस प्रकार कि चन्द्रमा आकाशमें नद्वत्र-सभा-स्थित उस प्रभा-दीप्तिसे शोभता है जो कि कुन्द-पुष्पोंकी शोभाके समान सब ओरसे धबल है।’

तव जिन ! शासन-विभवो
 जयति कलावपि गुणाऽनुशासन-विभवः ।
 दोष-कशाऽसनविभवः स्तुवन्ति
 चैनं प्रभा-कृशाऽसनविभवः ॥ २ ॥

‘हे वीर जिन ! आपका शासन-माहात्म्य—आपके प्रवचनका यथात्वस्थित पदार्थोंके प्रतिपादन-स्वरूप गौरव—कलिकालमें भी जयको प्राप्त है—मर्वोत्कृष्टरूपमें वर्त रहा है—, उसके प्रभावसे गुणोंमें अनुशासन-प्राप्त शिष्यजनोंका भव विनष्ट हुआ है—संसारपरिग्रामण सदाके लिए छूटा है—इतना ही नहीं, किन्तु जो दोषरूप चाबुकोंका निराकरण करनेमें समर्थ हैं—चाबुकोंकी तरह पीडाकारी

काम-क्रोधादि दोषोंको अपने पास कटकने नहीं देते—और अपने ज्ञाना-दि-तेजसे जिन्होंने आसन-विभुआँडेको—लोकके प्रसिद्ध नायकों—निस्तेज किया है वे—गणधरदेवादि महात्मा—भी आपके इस शासन-माहात्म्यकी स्तुति करते हैं ।

अनवद्यः स्याद्वादस्तव दृष्टेष्टाऽविरोधतः स्याद्वादः ।

इतरो न स्याद्वादो मद्वितयविरोधान्मुनीश्वराऽस्याद्वादः ॥३॥

‘हे मुनिनाथ ! ‘स्यान’ शब्द-पुरस्सर कथनको लिए हुए आपका जो स्याद्वाद है—अनेकान्तात्मक प्रवचन है—वह निर्देश है; क्योंकि दृष्ट—प्रत्यक्ष—और इष्ट—आगमादिक—प्रमाणोंके साथ उसका कोई विरोध नहीं है । दूसरा ‘स्यान’ शब्द-पूर्वक कथनसे रहित जो सर्वथा एकान्तवाद है वह निर्देश प्रवचन नहीं है; क्योंकि दृष्ट और इष्ट दोनोंके विरोधको लिये हुए है—प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे बाधित ही नहीं, किन्तु अपने इष्ट-अभिमतको भी बाधा पहुँचाता है और उसे किसी तरह भी सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं हो सकता ।

त्वमसि सुराऽसुर-महितो

ग्रन्थिकसन्त्वाऽशयप्रणामाऽमहितः ।

लोक-त्रय-परमहितो

ऽनावरणज्योतिरुज्ज्वलद्वाप-हितः ॥ ४ ॥

‘(हे वीर जिन !) आप सुरों तथा असुरोंसे पूजित हैं, किन्तु ग्रन्थिकसन्त्वोंके—मिथ्यात्वादि-परिग्रहसे युक्त प्राणियोंके—(अभक्त) हृदयसे प्राप्त होनेवाले प्रणामसे पूजित नहीं हैं—भले ही वे ऊपरी प्रणामादिसे पूजा करे, वास्तवमें तो सम्यग्दृष्टियोंके ही आप पूजा-पात्र हैं । (किसी किसीके द्वारा पूजित न होनेपर भी) आप तीनों लोकके

ग्राणियोंके लिए परमहितरूप हैं—राग-देषादि-हिंसाभावोंसे पूर्णतया रहित होनेके कारण किसीके भी अहितकारी नहीं, इतना ही नहीं, किन्तु अपने आदर्शसे सभी भविकजनोंके आत्म-विकासमें सहायक हैं—,आव-रणरहित ज्योतिको लिये हुए हैं—केवलज्ञानके धारक हैं—और उज्ज्वलधामको—मुक्तिस्थानको—प्राप्त हुए हैं अथवा अनावरण ज्योतियोंसे—केवलज्ञानके प्रकाशको लिए हुए मुक्तजीवोंसे—जो स्थान प्रकाशमान है उसको—सिद्धिशिलाको—प्राप्त हुए हैं ।'

सभ्यानामभिरुचितं
दधासि गुण-भूषणं श्रिया चारु-चितम् ।

मग्नं स्वस्यां रुचितं

जयसि च मृग-लाञ्छनं स्व-कान्त्या रुचितम् ॥५॥

(हे वीर जिन !) आप उस गुणभूषणको—सर्वज्ञ-वीतरागतादिरूप गुणोंके आभूपणोंको—धारण किए हुए हैं जो सभ्यजनों अथवा समवसरण-सभा-स्थित भव्यजनोंको रुचिकर है—इष्ट है—और श्रीसे—अष्ट प्रातिहार्यादिरूप विभूतिसे—ऐसे रूपमें पुष्ट है जिससे उसकी शोभा और भी बढ़ जाती है। और अपने शरीरकी कान्तिसे आप उस मृगलाञ्छन-चन्द्रमाको जीतते हैं जो अपनी दीप्तिमें मग्न है और सबको सुन्दर तथा प्यारा मालूम होता है—आपके शरीरका सौन्दर्य और आकर्षण पूर्ण चन्द्रमासे भी बढ़ा चढ़ा है ।'

त्वं जिन ! गत-पद-माय-
स्तव भावानीं सुमुक्तु-कामद ! मायः ।
श्रेयान् श्रीमद्माय-
स्त्वया समादेशि सप्रयाम-दमाऽयः ॥६॥

‘मुमुक्षुओंको इच्छित प्रदान करनेवाले—उनकी मुक्ति-प्राप्तिमें परमसहायक—(है वीर जिन !) आप मद् और मायासे रहित हैं— अकषायभावको प्राप्त होनेसे निर्दोष हैं—, आपका जीवादि-पदार्थोंका परिज्ञान—केवलज्ञानरूप प्रमाण—(सकल बाधाओंसे रहित होनेके कारण) अतिशय प्रशंसनीय है, और आपने श्रीविशिष्ट—हेयोपादेय तत्त्वके परिज्ञान-लक्षणा लक्ष्मीसे युक्त—तथा कपट-रहित यम और दम-का—महाब्रतोंके अनुष्ठान तथा परम इन्द्रियजयका—उपदेश दिया है।’

गिरिभित्त्यवदानवतः श्रीमत इव दन्तिनः स्वदानवतः ।

तव शम-वादानवतो गतमूर्जितमपगत-प्रमादानवतः ॥७॥

‘जिस प्रकार भरते हुए मदके दानी, और गिरि-भित्तियों-पर्वत-कटनियों—का विदारण करनेवाले (महासामर्थ्यवान्) और श्रीमान्—सर्वलक्षणसंम्पन्न उत्तम-जाति-विशिष्ट—गजेन्द्रका स्वाधीन गमन होता है उसी प्रकार परम अहिंसा-दान—अभयदान के दानी है वीर जिन ! शमवादोंकी—रागादिक दोषोंकी उपशान्तिके प्रतिपादक आगमोंकी—रक्षा करते हुए आपका उदार विहार हुआ है।— आपने अपने विहार-द्वारा जगत्को रागादिक दोषोंके शमनरूप परमब्रह्म—अहिंसाका, सद्दृष्टि-विधायक अनेकान्तवादका और समता-प्रस्थापक साम्यवादका उपदेश दिया है, जो सब (अहिंसा, अनेकान्तवाद और साम्यवाद) लोकमें मद—अर्हकार्यका त्याग, वैर-विरोधका परिहार और परस्परमें अभयदानका विधान करके सर्वत्र शान्ति-मुख्यकी स्थापना करते हैं और इस लिये सन्मार्ग-स्वरूप हैं। साथ ही, वैपर्य-स्थापक, हिंसा-विधायक और सर्वथा एकान्त-प्रतिपादक उन सभी वादों—मतोंका खण्डन किया है जो गिरि-भित्तियोंकी तरह सन्मार्गमें बाधक बने हुए थे।’

बहुगुण-सम्पदसकलं
 परमतमपि मधुर-वचन-विन्यास-कलम् ।
 नय-भक्त्यवतंस-कलं
 तत्र देव ! मतं समन्तभद्रं सकलम् ॥ ८ ॥ (१४३)

‘हे वीर जिनदेव ! जो परमता है—आपके अनेकान्त-शासन से भिन्न दूसरों का शासन है—वह मधुर वचनों के विन्यास से—कानों को प्रिय मालूम देनेवाले वाक्यों की रचना से—मनोज्ञ होता हुआ भी—प्रकट रूप में मनोहर तथा रुचिकर जान पड़ता हुआ भी—बहुगुणों की सम्पत्ति से विकल है—सत्यशासन के योग्य जो यथार्थवादिता और पर-हितप्रतिपादनादि-रूप बहुत से गुण हैं उनकी शोभा से रहित है—सर्वथैकान्तवाद का आश्रय लेने के कारण वे शोभन गुण उसमें नहीं पाये जाते—और इस लिए वह यथार्थ वस्तु के निरूपणादि में असमर्थ होता हुआ वास्तव में अपूर्ण, सबाध तथा जगत के लिए अकल्याण कारी है। किन्तु आपका मत—शासन—नयों के भज्ञ—स्यादस्ति-नास्त्यादि—रूप अलंकारों से अलंकृत है अथवा नयों की भक्ति-उपासना रूप आभूषण को प्रदान करता है—अनेकान्तवाद का आश्रय लेकर नयों के सापेक्ष व्यवहार की सुन्दर शिक्षा देता है—और इस तरह—यथार्थवस्तु-तत्त्व के निरूपण और परहित-प्रतिपादनादि में समर्थ होता हुआ—बहुगुण-सम्पत्ति से युक्त है, (इसी से) पूर्ण है और समन्तभद्र है—सब ओर से भद्ररूप, निर्वाधतादि-विशिष्ट शोभा सम्पन्न एवं जगत के लिए कल्याण कारी है।’

इति श्रान्निरवद्यस्याद्वादविद्याधिपति—सकलताकिंकचकच्छूडार्मण—शुद्धा-
 गुणज्ञतादिसातिशयगुणगणविभूषित—सिद्धसारस्वत—स्वामिसमन्तभद्राचार्य-
 विरचितं चतुर्विशतिर्जिनस्तवनात्मकं स्वयम्भूस्तोत्रं समाप्तम् ।